चतुर्थ अध्याय

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास साहित्य में सामाजिक संचेतना के अभिव्यक्ति

चतुर्थ अध्याय

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास साहित्य में सामाजिक संचेतना के अभिव्यक्ति

4.1 उपन्यासों में समाज का स्वरूप

4.1.1 जाति

4.1.2 छुत-अछूत

4.1.3 पुलिस

4.1.4 न्याय

4.1.5 सहकारी जीवन

4.1.6 दाम्पत्य जीवन

4.1.7 परिवार

4.1.8 नारी स्वातंत्र्य की समस्या

4.1.8.1 दहेज प्रथा

4.1.8.2 बहु विवाह

4.1.8.3 अनमेल विवाह

4.1.8.4 दासी प्रथा

4.1.8.5 विधवा प्रथा

4.1.8.6 सती प्रथा

4.2 उपन्यासों में आर्थिक पृष्ठभूमि

4.3 उपन्यासों की धार्मिक पृष्ठभूमि

4.4 उपन्यासों की राजनीतिक पृष्ठभूमि

चतुर्थ अध्याय

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास साहित्य में सामाजिक संचेतना के अभिव्यक्ति

4.1 उपन्यासों में समाज का स्वरूप

व्यक्ति अपने युग में जीता है और युग की अनुभूतियों को अपने ढंग से अभियक्त करता है । साहित्यकार भी अपनी युगीन परिस्थितियों को देखता है एवं युगीन समस्याओं से परिचित होता है और समस्या को समाधान के रूप में नये निष्कर्ष निकालता है । वर्मा जी भी एक श्रेष्ठ साहित्यकार थे उनके कथा-साहित्य में जीवन की अनुभूतियाँ बड़े ही सुंदर रूप में चित्रित हुई है । समाज के विविध रूप उनकी दृष्टि के सामने आये और समाज के तिक्त मधुर रूपों को उन्होंने देखा साथ ही उनके जीवन के तिक्त अनुभूतियों को भी उन्होंने साहित्य में उकेरा ।

वर्मा जी के उपन्यासों में, समाज का स्वरूप सर्वत्र एक-सा नहीं है । उसका यह कारण है कि उनके उपन्यास किसी युग विशेष से संबंध नहीं है । उनमें वैदिक युग से लेकर बीसवीं शताब्दी के कथानक गूँथे हुए है । उन्होंने अपने समाज के प्रति जातिगत भेदभाव, छूआछूत की समस्या, पुलिस व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, स्त्री समस्या आदि सामाजिक उपकरणों का साहित्य में उल्लेख किया है ।

4.1.1 जाति

वैदिक युग में सुचारुता एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए तदयुगीन समाजशास्त्रियों ने समाज में चार वर्णो की व्यवस्था की है । इसके अनुसार, बौद्धिक कार्य करने वाला वर्ग ब्राह्मण, संबंधी भार वहन करने वाला क्षत्रिय, व्यापार करनेवाला वर्ग वैश्य तथा सभी प्रकार की सेवा का भार वाहक वर्ग शुद्र कहा गया । यहा वर्ण-व्यवस्था व्यक्ति की कार्यक्षमता के आधार पर बनायी गई थी । कोई व्यक्ति जन्म से न तो ब्राह्मण था, न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र । एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की कन्या से विवाह कर सकता था, अपने व्यवसाय को त्यागकर दूसरे वर्ण के व्यवसाय में दीक्षित हो, वर्ण परिवर्तन कर सकता था । परंतु यह लचीली व्यवस्था, वर्णाश्रम धर्म के

प्रारम्भिक युग तक सीमित रही । धीरे-धीरे इस व्यवस्था का रूप और व्यवहार कठोर होता गया । व्यक्ति जन्म से ही जाति बंधन में बंध गया । उसे अपने वर्ण या जाति को बदलने का स्वातन्त्र्य न रहा ।

जातिगत भेदभाव का वर्णन वर्माजी के अनेक उपन्यासों में देखने को मिलता हैं । "उनका सबसे प्राचीन इतिहास से संबंधित उपन्यास 'भुवन विक्रम' में कपिजल को वैश्य होते हुए भी, अकाल की मार से शुद्र बनना पड़ता है । वह विदेशी पणि नील का दासत्व ग्रहण करता है और उसके अत्याचारों से पीड़ित हो, वहा से भाग कर उस युग के महान चिन्तक, समाज सुधारक तथा विद्वान, महर्षि, घोम्य क शरण पकड़ता है । महर्षि उसे योग विद्या में दीक्षित कर तप करने हेतु, निर्जन अरण्य की शरण में भेद देते है । फिर भी वह जन सामान्य की चर्चा का विषय बन ही जाता है । "मेघ जैसे पाखण्डी क्रोधी और सत्तातोलुप ब्राह्मण और आचार्य, कपिजल जैसे शुद्र की तपस्या का दुष्परिणाम अयोध्या में पड़ रहे अकाल को बताते है ।"[1]

इसी समस्या का सामना पद्रहवी शताब्दी के मृगनयनी उपन्यास में ग्वालियर के प्रसिद्ध तोमर शासक मानसिंह को भी करना पड़ता है । परंतु वह दिवाकर कायस्थ जैसे कायर और संकीर्ण विचारधारा से घिरा व्यक्ति नहीं है । वह साहसी और उदार दृष्टिकोण वाला युवा वीर है । "इसलिए वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता को त्याग कर गुर्जर कन्या मृगनयनी से विवाह करता है । फिर भी वह अपने साले अटल का विवाह अहीर जाति की होने के कारण अटल की प्रिय लाखा रानी से नही करवा पाता है । राई गाँव का बोधन पुजारी इस विवाह को अधर्म मूलक बतलाकर विवाह करने से स्पष्ट इंकार कर देता है । विजय जंगम जो कर्नाटक का प्रसिद्ध शैव है, इस विवाह को सम्पन्न कराता है । जनता जितने खुले दिल से मानसिंह व मृगनयनी के अंतर्जातीय विवाह को सहमति देती है, उतना अटलसिंह और लाखारानी के विवाह को नहीं दे पातीं इसका एक मात्र कारण मानसिंह का शासक होना है । उनका विवाह है 'राजा ऐसा कर सकता है । उसे सब सुहाता है ।"[2]

मुगलों के आगमन और साम्राज्य विस्तार के परिणामस्वरूप सोहलवीं शताब्दी में इसी के प्रभाव में स्त्री भी विलासिता और भोग का साधन बन गई थी । सुरा और सुन्दरी शामों को रंगीन बनाने का माध्यम थे । रंगीनियों की बाढ़ ने स्त्री की भुख को पुरूष वर्ग में इतना बढ़ा दिया कि सामान्य जन भी विवाहिताओं के अतिरिक्त रखेल स्त्रियों को रखने में अपना स्वाभिमान समझने लगता । फलतः जातिगत संकीर्णता का निवाह कठिन हो गया और अब अन्य जाति की स्त्री को रखेल के रूप में स्वीकार कर लेना अथवा अन्य जाति में, स्वाजाति के अथवा ब्राह्मण के द्वारा बनाया गया व परोसा गया भोजन ग्रहण कर लेना समाज स्वीकृत हो गया । वर्मा जी के 'टूटे काँटे उपन्यास में इसका उल्लेख हो जाता है - "जब मोहनलाल निराश्रित नूरबाई का मुघल खेमे से उद्धार ही नहीं करता वरन ब्रज की पवित्र भूमि में यमुना जेल की साक्षी में उसे अर्धांगिनी के रूप में स्वीकार कर लेता है ।"[3]

'महारानी दुर्गावती' उपन्यास में 'महारानी दुर्गावती' से विवाह के प्रसंग पर राजा दलपति शाह का दुस्साहस भी लगभग इसी प्रकार का है । 'रानी दुर्गावती चन्देल कुमारी है जबकि राजा दलपतिशाह राज गोंड । दोनों एक दूरे को चाहते है परंतु सामाजिक बन्धनों के कारण उनका विवाह संभव नहीं है । वृद्ध चन्देल राजा कीर्तिसिंह पुत्री की भावनाओं और दलपतिशाह के गुणों के प्रशंसक होने पर भी सामाजिक रूढियाँ तोड़ने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं और इसी कारण इन दोनों से मिलकर दुर्गावती के कृत्रिम अपहरण का षडयंत्र रचते हैं । विवाह के बाद भी वह समाज के विरोध के भय से दुर्गावती से किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष संबंध नहीं रख पाते । फलतः दुर्गावती द्वारा पुत्र प्रसव पर भी बधाई नहीं भेज पाते ।"[4]

वर्ण व्यवस्था की यह कठोरता वर्मा जी के सभी उपन्यासों में जहाँ-तहाँ देखी जा सकती है ।

4.1.2 छुत-अछूत

अछूतों से संबंधित समस्या भारत में सर्वकालिक होते हुए भी मध्य युग में अधिक जटिल रूप में उभरी है । इस व्यवस्था का प्रारंभ वर्ण-व्यवस्था में बढती जटिलता के साथ होने लगा था । उत्तर वैदिक युग से संबंधित 'भूवन विक्रम' उपन्यास में राजा रोमक-रानी ममता, पुरोहित सोम, महर्षि घौम्य एवं उन्के योग्य शिष्य, आरूणि वेद, कल्पक और भुवन का दृष्टिकोण उदार है । वे वैदिक युग की वैज्ञानिक जाति व्यवस्था के पोषक हैं, जबकि मेघ, नीलपणि, दीर्घबाहु, हिमानी और अधिकांश जन सामान्य छुआछुत के संबंध में पर्याप्त संकीर्ण विचारधारा से आक्रन्त है । "वार्ताशास्त्र के सुत्रों का मनन करते हुए आरूणी, भेड़िये द्वारा ले जाते हुए जिस बालक का उद्धार करता है, वह अछूत कहलाने वर्ग की संतान है । बालक का कृतज्ञ पिता आरूणि से याचना सी करता हुआ पश्चाताप करता है और कहता है - "में अछूत हूँ । इस बालक को छूने से आपको प्रायश्चित करना होगा । पर आरूणि तुरंत उसका समाधान कर उसे पश्चाताप से उबार लेना है । वह कहता है - "तुम्हे औ इस बालक को छुने से तो मेरे न जाने कितने पाप घुल गये ।"[5]

आरूणि की यह करूणा एक कर्मयोगी की करुणा है । उसकी कर्तव्य भावना है । फिर भी समाज में ऐसे उदाहरण बहुत कम ही है और प्रायश्चित करना पड़ेगा । जैसी शब्दावलियों में प्रकट हुई है । समाज के प्रतिनिधि जैसी शब्दावलियों में प्रकट हुई है । समाज के प्रतिनिधि वर्गो में अटूट जातिदम्भ और क्रूरता को बढावा देती रही है । इसीलिए भारतीय समाज में जातिगत भेदभाव इतना बढ गया था कि मानव द्वारा अन्य (निम्नवर्गीय) मानव का स्पर्श भी पापमय माना जाने लगा था । परिणामतः इस दुर्भावना से अभिशप्त भारतीय समाज, आपसी द्वेष और घृणा से, इस सीमा तक आकण्ड डुब गया कि निम्न वर्ग ने, अपना धर्म परिवर्तन कर लिया । पहिले इन्होंने जैन व बौद्ध धर्म में इसका निस्तार पाकर जैन व बौद्ध धर्म अंगीकार किया । बाद में मुस्लिम और

ईसाई धर्म में भी यह कुचला पिसला वर्ग दीक्षित हुआ । क्योंकि इन धर्मों में दीक्षित होने पर उन्हें आपसी सौहार्द और मानवीय मान्यतायें प्राप्त हुई ।

अछूतों को किस श्रेणी में रखा जाय । यह भी एक विवादास्पद प्रश्न है । समाज में, निम्न स्तर की शारीरिक सेवाओं को करने वाला वर्ग उपेक्षित होता चला गया और धीरे-धीरे श्रम के बोझ से यह वह्क आत्मा के बोझ से भी दब गया या यों कहिये उसकी आत्मा अपने हीनत्व के भार से इतनी झुकी कि उन्हें यह सुधि ही नहीं रही कि वे कोन हैं । और क्या है । समाज इन्हें अस्पर्श मानने लगा । इन्हें उच्च कुल से संबंधित लोगों को देखने तक का निषेध कर दिया गया । पूजा-पाठ, मन्दिर में दर्शन आदि सभी से उन्हें वंचित कर दिया गया था । मानवीय अधिकारों की दृष्टि से पुनर्जागरण के युग बीसवीं शताब्दी में भी गांधीजी के अछूतों से संबंधित उदार विचारों के होते हुये भी, अछूत समस्या हल न हो सकी । इस विषय को वर्मा जी ने समस्या के रूप में न उठा कर सामान्यतः जीवन क्रम के रूप में प्रस्तुत किया है । उनके उपन्यास 'संगम', 'प्रत्यागत', 'मुसाहिबजू', 'अमरबेल', आदि इसी करूणापूर्ण सहानुभूति का प्रतिनिधित्व करते है । ''मुसाहिब जू' उपन्यास में, 'राव दिलीपसिंह अपने आखेट में न केवल मेहतरों को साथ रखते हैं, वरन् घायल पूरन की चिकित्सा तक अपने हाथों से करते है । तथा वह घायल पूरन को अपने प्राण बचाने के उपलक्ष्य में गले लगाकर कहते है - ''आज से यह मेरे बेटे के बराबर हुआ है ।''[6]

इस तरह से वर्मा जी अछूत कहे जाने वाले वर्ग को प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं । 'संगम' उपन्यास में भी इसी प्रकर के उदाहरण देखने को मिलते है ।

'''सगम' के ब्राह्मण युवक रामचरण और केशव भी, झाँसी में फैले प्लेग के प्रकोप के समय दत्त चित्त होकर स्वयं सेवक दल का गठन करते है । इनका यह दल जातिभेद से परे, प्रत्येक रोगी की चिकित्सा एवं शव दाह के कार्य में दत्त चित्त हो जाता है । रामचरण तो केसरिया बाना पहिन कर हरिजनों के साथ मकानों की सफाई भी करने में

पीछे नहीं हटता । केशव भी इसी कारण माँ के आग्रह पर भी झाँसी नहीं छोड़ता और रामचरण का अनुसरण करता है ।"[7]

रामचरण के रूप में वर्माजी ने अपना उदारवादी दृष्टिकोण ही प्रकट नहीं किया है, वरन् वह स्वयं उस रूप में आये हैं । सन् 1918 में अक्टूबर के माह में भयंकर इन्फल्युऐंन्जा फैला था । उस समय स्वयं वर्माजी ने रोगियों की सुश्रुषा के लिए स्वयं सेवक दल का गठन किया था । इसका वर्णन उन्होंने 'अपनी कहानी' में निम्नलिखित प्रकार से किया है -

"सन् 1918 के अक्टूबर में यकायक इन्फ्लूयेन्जा का भीषण रूप प्रकट हुआ । बहुत छुतहा था । इसे डाक्टर न्यूमौनिक प्लेग कहते थे । इतना भयंकर था कि सन्ध्या समय आदमी बीमार पड़ा और सवेरे चल बसा ! नगर में हाय हाय मच उठी । मुझे असीसी (इटली) के सन्त फ्रान्सिस की याद आ गई जिनका हाल इटली के इतिहास में विद्यार्थी काल में पढ़ा था । निश्चय किया कि कुछ सेवा करूँगा । उमंग भरे कुछ साथी भी तुरंत मिल गये... दवाइयाँ मिल गई । सरकारी अस्पताल से मटके भर-भर दवा मेरे घर आ जाती थी । हम लोग उसे बाँटा करते थे । लावारिस लाशें कभी मकानों में कभी सडकों पर पड़ी रह जाती थीं । चुंगी के मेहतरों को ढोने का काम सुपुर्द था । जैसे उनके जान ही न हो । हम लोगों ने ढुलाई शरू कर दी । 'बंदे मातरम' कहते कहते होते थे - 'राम नाम सत्त है' की अपेक्षा उससे अधिक स्फूर्ति मिलती थी ।"[8]

जिस भावना से प्रेरित होकर (लावारिसों की लाशें ढोने का काम मेहतरों के सुपुर्द था । जैसे उनमें जान ही न हो) वर्माजी ने अपने इस स्वयं सेवक दल का गठन किया था, वही भावना उनके औपन्यासिक पात्रों के गठन में भी साथ रही है । इसीलिए अछूत वर्ग उनके समक्ष समस्यात्मक रूप में नहीं आया है । यह वर्ग पूर्णतः जागरूक होकर वर्ग प्रतिनिधित्व करता हुआ ही उनके उपन्यासों में आया है । 'अमरबेल' उपन्यास में इसका उल्लेख हुआ है । "'अमरबेल' में चमारों का प्रतिनिधित्व छदामी करता है । सवर्णो व जमींदारों को चुनौती देता हुआ वह कहता है - 'हम बेट-बेगार तो करेंगे ही नहीं, साथ ही

खाल की अघौटी देकर भैंस की लाश भी नहीं उठायेगे ।'... इतना ही नहीं उठाकर ले जाने वालों का सिर भी फोड़ डालेंगे ।"[9]

टहलराम और डाक्टर सनेहीलाल छदामी के वर्ग का सहयोग देकर, इस नवीन चेतना को सामाजिक मान्यता प्रदान करते हैं । सारांक्ष यह है कि परमात्मा की छवि, समस्त सृष्टि में देखने वाले भारतीय समाज अज्ञानवश भले ही सदियों तक मानव-मानव के बीच भेद की दीवार खड़ी करके एक दूसरे को कुचलता-पिसलता रहा हो, परंतु अधिक समय तक यह सब करते रहना उसकी प्रकृति के विरुद्ध था । इसलिये त्रुटि का अनुभव होते सही कहा जाय तो अति प्राचीन वैदिक दृष्टिकोण को अपनाया । वर्मा जी का ध्यान भी इस पक्ष के इसी रूप की और अधिक आकर्षित हुआ है ।

4.1.3 पुलिस

समाज में शान्ति व्यवस्था एवं नियंत्रण बनाये रखने के लिए पुलिस का महत्व सदैव ही रहा है। वर्मा जी के उपन्यासों में भी समाज के इस महत्वपूर्ण वर्ग का चित्रण हुआ है । "'भुवन विक्रम' उपन्यास में राजा रोमक अपने राज कर्मचारियों अर्थात् पुलिस द्वारा नगर पणियों द्वारा भण्डागारों में छिपा कर रखे गए अनाज को, छापे डलवा कर निकलवा लेता है । यह अनाज वह अकाल पीड़ित जन में वितरित करता है ।"[10]

सामान्तवादी युग से परे हट कर लिखे गए उपन्यास 'अमरबेल' में अवसरानुकूल पुलिस व्यवस्था का वर्णन मिलता है । "'अमरबेल' में झगड़ों को मिटाने और डाकुओं के दमन के लिये सुहाना व नागुर्दन ग्रामों के लिए पुलिस चौकी स्थापित की जाती है ।"[11]

कुछ उपन्सों में पुलिस का बीभत्स रूप भी देखने को मिला है । 'कभी न कभी' और 'अचल मेरा कोई' में इसका वर्णन हुआ है । "'कभी न कभी' में ताँगे वाले की लापरवाही के कारण, मजदूर लछमन के पैर का घुटना घायल हो जाता है । ताँगे वाले को डाँटने या सजा देने के स्थान पर पास खड़ा पुलिस का सिपाही लक्षमन को बुरी तरह डाँटता है - "सड़क पर जमत्व मत करो, नहीं तो हंगामे के मुकदमे का चालान कर दूँगा।"[12]

'अचल मेरा कोई' उपन्यास में पुलिस का यही रूप, इस विभाग के प्रति समाज में व्याप्त घृणा का कारण है । इस विभाग के कर्मचारियों की क्रूरता स्त्रियों तक को नहीं बख्शती । "तिजुआ के गाँव में जाकर पुलिस इन्सपेक्टर सिपाहियों द्वारा पुरूषों को तो पिटवाता ही है, स्त्रियों को भी बेरहमी से पिटवाता है ।"[13]

वह उन्हें बाँधकर एक स्थान पर एकत्रित कर लेता है । वह तो अचलकुमार कुन्ती और उनके फोटोग्राफर साथी की बदोलत ये सभी बच जाते है अन्यथा और भी अत्याचार सहने पड़ते । आज भी पुलिस विभाग ही भ्रष्टाचार, अत्याचार और क्रुरता का पर्याय बन गया है । प्रारंभ में भले ही इस विभाग ने समाज में व्यवस्था बनाए रखने सक्रिय सहयोग दिया हो वर्तमान में यह विभाव व्यवस्था से अधिक अव्यवस्था फैला रहा है । वर्मा जी के उपन्यासों में इसके उभय पक्षों का चित्रण हुआ है ।

4.1.4 न्याय

वर्मा जी के उपन्यासों में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों में न्याय प्रणालियों की परंपरा देखने को मिल जाती है । 'उत्तरवैदिक युग से संबंधित 'भुवनविक्रम' उपन्यास में इसका उल्लेख हुआ है । उपन्यास में अयोध्या का राजा रोमक, युगीन परंपरा के अनुरूप सर्वोच्च न्यायधीश है । परंतु जिस समय नील पणि, दीर्धबाहु, हिमानी मेघ और उनके अन्य अनुयायी, राजा रोमक व राजकुमार भुवन को विवाह के षडयंत्र द्वारा मारकर सदैव के लिए राज्य को अपने हाथों में रखने का प्रयत्न करते है, उस समय षडयंत्र का भेद खुल जाने पर भी और प्रमाण मिल जाने पर भी उनके न्याय की व्यवस्था राजपुरोहित सोम करते है । प्रजा के द्वारा इन लोगें को मृत्युदंड दिए जाने के माँग पर भी 'भुवन' तुरंत दंड का प्रतिवाद करते हुए विनय करता है । उदाहरण देखिये -

"इन्हें प्राणदंड नहीं देना चाहिए परमात्मा की दया से हम सब बन गए और रक्तपात बिलकुल नहीं हो पाया । हम अपने आनन्द को क्यों क्लुषित करे ।"[14]

उक्त न्याय व्यवस्था के विपरीत हम 'झाँसी की रानी' उपन्यास में झाँसी के राजा गंगाधराव की मनमौजी और कठोर न्याय व्यवस्था भी देखते है । वह नाट्यशाला के

प्रहरी की तनिक सी असावधानी का दंड बिच्छुओं द्वारा डंसवाना जाना निर्धारित करते है । उदाहरण देखिये -

"गंगाधरराव ने एक विशेष वर्ग के अपराधों के लिये बिच्छु से कटवानें का विधान कर रक्खा था । कट्ठे में पैरों का डालना भांजना एक साधारण बात थी । गहन अपराधों में हाथ पाँव कटवा डालने की जनसम्मत प्रथा जारी थी । परंतु दबे दबे और थोड़ी-थोड़ी। दहकते अंगारों से डाकुओं के अंग जलवाना इस विधान में शामिल था, परंतु बिच्छुओं से कटवाना जन-वृत्ति की सहन-शक्ति से बाहर हो गया था ।"[15]

इस युग की उदारता की प्रतिमूर्ति झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई अपने स्वर्गीय पति राजा गंगाधर राव की व्यवस्था के विपरीत दंड की अपेक्षा क्षमा में अधिक विश्वास रखते हुए, कुख्यात डाकू 'सागरसिह' को पकड़ने के बाद भी अपने प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लेकर छोड देती है । इतना ही नहीं उसकी वीरता का आदर कर उसे कुंवर की पदवी भी देती है ।

4.1.5 सहकारी जीवन

रूसी साम्यवाद के प्रभाव स्वरूप सरकारी जीवन की विचार-धारा का प्रार्दुभाव भारत में हुआ । यह विचारधारा, स्वतंत्रता के बाद से संबंधित है । सहकारी जीवन की विचार धारा वर्गभेद दूर करने के उद्देश्य से अपनाई गई और इसी का क्रियात्मक रूप सहकारी कृषि समितियों एवं सहकारी उद्योगों के रूप में समाज में उभरा । इसका मूल उद्देश्य कृषि की अवस्थाओं का सुधार भी था । वर्मा जी स्वयं इस धारा से अत्याधिक प्रभावित थे । उनका 'अमरबेल' इसी सहकारी भावना का प्रतिनिधित्व करते है । 'अमरबेल' उपन्यास में सरकारी भावना का उल्लेख इस प्रकार हुआ है - "टहलराम उच्च शिक्षा प्राप्त युवा है जो शिक्षा को पद प्राप्ति का माध्यम न बनाकर, उसका उपयोग कृषि और ग्रामोत्थान में करता है । 'टहलराम' के सदृश्य डॉ. स्नेहीलाल और 'राघवन' में सहकारी जीवन के प्रति अनन्य श्रद्धा है । ये लोग अपने प्रयत्नों द्वारा सुहाना और बागुर्दन ग्रामों की सहकारी कृषि योजना को पनपाते है । इन ग्रामों में सहकारी उद्योगों

को लाते हैं । इनके सहकारी जीवन का आधार भारतीय देवों का यह वाक्य है - "सगच्छध्वं, सं वदध्वं, सहनौ भुनुक्तु, समाजी मुषा सह वो अन्न भागी ।"[16]

इसी प्रेरणा से वह गांवों में सौहार्द को फैलाता है । देशराज जैसे शिक्षित जमींदार की विचारधारा में परिवर्तन लाना इनकी विशेष उपलब्धि कही जा सकती है ।

4.1.6 दाम्पत्य जीवन

दाम्पत्य जीवन शब्द का आधार दंपति शब्द है । दंपति अर्थात् पति और पत्नी । पति-पत्नी का वैवाहिक जीवन दाम्पत्य जीवन है । वही पति-पत्नी सुखद वैवासिक जीवन जी सकते है, जो एक दूसरे को भावात्मक स्तर पर आहत किए बिना स्नेहपूर्वक रह रहे हों । जहाँ पति और पत्नी का मानसिक और भावात्मक स्तर एक दूसरे से भिन्न होता है, वहाँ सफल दाम्पत्य जीवन नितान्त दुर्लभ है । एक दूसरे से ताल-मेल न बैठ पाने के कारण उनके बीच दिन रात कल्ह होती रहती है, जो दाम्पत्य जीवन के सुख में विष घोल देती है । इस कलह का परिणाम ही पारिवारिक विघटन है । कभी-कभी किसी एक पक्ष पति या पत्नी द्वारा, अपनी समझ बुझ से स्थिति में सुधार कर लिया जाता है और उनका असफल दाम्पत्य, सफल सुखी दाम्पत्य जीवन बन जाता है । जहाँ पति-पत्नी दोनों के भावनात्मक और वैचारिक स्तर में सामन्जस्य होता है, वहाँ उनके आपसी संबंध बड़े माधुर्यपूर्ण पूर्ण होते हैं । इस प्रकार के जोड़े बड़ा ही मधुर और सफल सामाजिक जीवन जीते है ।

वर्मा जी के उपन्यासों में दोनों ही प्रकार के दाम्पत्य जीवन के विविध पहलुओं का चित्रण हुआ है । 'महरानी दुर्गावती' उपन्यास में वर्मा जी ने राजकुमारी दुर्गावती एवं राजा दलपतिशाह के रोमांश चित्रण में तो अपनी कल्पना का सूक्ष्म प्रदर्शन किया है, परंतु उनके दाम्पत्य जीवन का चित्रण करने का अच्छा अवसर होने पर भी, नहीं के बराबर किया है । फिर भी सांकेतिक चित्रण यह सिद्ध करता है कि उनका दाम्पत्य जीवन सफल था । 'अमरबेल' उपन्यास में डाक्टर सनेहीलाल और उनकी शिक्षिता पत्नी राजदुलारी के दाम्पत्य जीवन की व्यावहारिक झाँकी अवश्य ही लेखक ने प्रस्तुत की है ।

दोनों ही समझदार पति-पत्नी है । वे लोग एकान्त में भी कभी एक दूसरे का अपमान नहीं करते। अतः जीवन में कलह या अशान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । इसीलिए इनका दाम्पत्य जीवन सुखद है । 'अचल मेरा काई' में अचलकुमार और निशा के सफल दाम्पत्य जीवन का रहस्य भी उनका आपसी सौहार्द है । दोनों में एक दूसरे के प्रति आदरभाव है और इलिए उनके जीवन में सुख और शान्ति है ।

उक्त उदाहरणों के विपरीत, सुधाकर और कुन्ती का दाम्पत्य जीवन इतना कलहपूर्ण हो जाता है कि कुन्ती अपने तनाव से मुक्ति पाने के लिए आत्म हत्या कर देती है । "'टूटे-काटे' उपन्यास में रोनी के ककंश व्यवहार से क्षुब्ध होकर कृषक मोहनलाल को सैनिक जीवन अपनाना पड़ता है । वह उसके तीखे व्यवहार से गृह त्याग देता है ।"[17]

इस प्रकार दाम्पत्य जीवन के आधे-अधूरे और अस्पष्ट चित्रों के माध्यम से ही वर्मा जी के उपन्यासों में भारतीय दाम्पत्य जीवन की धुंधली आकृति सामने आती है ।

4.1.7 परिवार

भारत वर्ष में तीन प्रकार के मुख्य परिवार पाये जाते है (1) विवाहित पति-पत्नी और बच्चों का परिवार, (2) मिश्रित परिवार, (3) रक्त संबंधी या संयुक्त परिवार ।

वर्मा जी के उपन्यासों में उक्त तीनों ही प्रकार के परिवार देखने को मिलते है । विवाह संबंधी परिवारों पति-पत्नी और बच्चों से निर्मित परिवारों में अटल व लाखी का परिवार (मृगनयनी), निशा और अचलकुमार का परिवार (अचल मेरा कोई), चरखारी वाली एवं दलीपसिंह का परिवार (मूसाहिबजू), रानी लक्ष्मीबाई उनके पति गंगाधर राव व पुत्र का परिवार (झांसी की रानी), राजा विक्रमादित्य एवं रानी आवंतीबाई का, भय अमानसिंह व शेर सिंह पुत्रों का परिवार (रामगढ की रानी), कृषक परमोले उसकी पत्नी और पुत्र के परिवार आते है । इसमें 'गढ़कुंडार' के राजा हुरमत सिंह, रानी पुत्र नागदेव व पुत्री मानवती, विष्णुदत्त उनकी रूण्ण पत्नी, पुत्र अग्निदत्त व पुत्री तारा, सोहनपाल उनकी पत्नी, पुत्री हेमवती, पुत्र सहजेन्द्र, 'अमरबेल' उपन्यास का डॉ. सनेहीपाल एवं उनकी पत्नी

राजदुलारी, टहलराम व उसकी विधवा मा घाटीवाली, 'महारानी दुर्गावती' उपन्यास की रानी दुर्गावती उनके पति राजा दलपतिशाह व पुत्र, 'आहत' का अंगद - पत्नी मंजरी और पुत्र दीपसिंह, 'भुवन विक्रम' का राजा रोमक - रानी ममता एवं राजकुमार भुवन, 'सोना' उपन्यास का अनुप सिंह और रूपा, राजा धुरंधर सिंह और सोना के द्वारा रचित परिवार भी आते है । वैसे वर्मा जी के उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण कथानकों के मूल उद्देश्य न होने के कारण विशेष कौशल के साथ नहीं किए गए है । न ही उन्होंने सुप्रयास इस विषय पर अपनी कोई धारणा ही व्यक्त की है । प्राकृतिक रूप में जैसी आवश्यकता हुई है उन्होंने परिवारों को उपन्यासों में चित्रित किया है । इसीलिए उनके कुछ परिवार अधूरे-अधूरे से है । इन अधूरे से परिवारों में, घाटीवाली का परिवार है जो मात्र उसके व उसके पुत्र टहलराम से बना है । 'कभी न कभी' में विधुर हरलाल का परिवार वह और उसकी एक मात्र कन्या लीला से बना है । इसके और उदाहरण 'लगन' के शिवू माते व उनका पुत्र देवी सिंह, 'सोना' उपन्यास के मामा व सोना तथा रूपा, 'भुवन विक्रम' के नीलपणि एवं पुत्री हिमानी, 'सगम' के घनीराम नाई व पालित कन्या जानकी के परिवार है । वस्तुतः इन छोटे परिवारों को सप्रयास छोटा रखा गया है यदि इनका विस्तार कर दिया जाय तो कथा की गति रूक जाती । इनके लघुत्व ने कथा विस्तार में पर्याप्त योगदान दिया है । 'भुवन विक्रम' उपन्यास में हिमानी की यदि माँ या बहिन होती तो वह गौरी को अपने षड़यंत्र में सहयोग देने का आमन्त्रण न देती । इसी प्रकार देवीसिंह माँ भाइ या बहिन की उपस्थिति में रात्रि की नीरवता में नदी तैर कर पत्नी रामा से मिलने बरौल नहीं जा सकता था । इस प्रकार हम देखते है कि स्वर्गीय वर्मा जी ने चाहे अनजाने ही इन छोटे परिवारों का निर्माण किया हो, परंतु उनका यह सीमांकन, घटनाक्रम के किसी न किसी बहुत महत्वपूर्ण अंश को अवश्य प्रभावित करता है ।

वर्मा जी के उपन्यासों में मिश्रित परिवार का भी उल्लेख हुआ है । भारतीय मिश्रित परिवारों में सभी रक्त संबंधी व्यक्ति आते है । ये संयुक्त परिवार तीन प्रकार के है । बृहत परिवार, मध्य परिवार, लघु परिवार ।

'कुण्डलीचक्र' के ललितसेन, उसका बहनोई भुजबल और बहिन रतन-कुमारी का परिवार मिश्रित लघु परिवार है । 'सगम' के पंडित सुखलाल का परिवार भी अपनी विधवा पुत्री रज्जन, पुत्र व पुत्र वधू, अपनी स्वर्गीय मुन्सी की विधवा पुत्री गंगा से बना है । भिखारी लाल का परिवार स्पष्टतः पत्नी, पुत्र सम्पतलाल और पुत्रवधू-जानकी द्वारा निर्मित है । अतः संयुक्त परिवार है । पंडित टीकाराम के परिवार में भी उनकी पत्नी फूलमनी पुत्र मंगलदास और पुत्रवधू सोमवती हैं । साथ ही उनका पारिवारिक भृत्य हरीराम है । 'आहत' में भी दूपी उर्फ दीपसिंह का परिवार हो जाता है तब उसका परिवार भी विस्तार पाकर संयुक्त परिवार बन जाता है । जिसमें स्वयं दीपसिंह, उसका पिता अंगद, पत्नी मंजरी एवं पत्नी छाया है । इस प्रकार 'टूटे काँटे तथा 'कचनार' का परिवार भी इसी प्रकार का है ।

इस प्रकार वर्मा जी ने जिन संयुक्त परिवारों का अपने उपन्यासों में चित्रण किया है, वे सभी अपेक्षाकृत लघु आकार के है । कहीं-कहीं तो इनका स्वरूप व्यक्तिगत परिवारों की सीमाओं से भी संकुचित रहा है ।

4.1.8 नारी जीवन की समस्याएँ

वर्मा जी के उपन्यास उत्तर वैदिक युग से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के कथानक को लेकर चले है । चारित्रिक तथा नैतिकता की दृष्टि से वर्मा जी के उपन्यासों की नायिकाएँ पूर्णतः भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करती हैं । वे वीर है, साहसी हैं, बुद्धिमान, कर्तव्यपरायण और त्यागी हैं । अपने नारीत्व पर आँच आती देखकर, अपने जीवन को उत्सर्ग कर देने की क्षमता उनमें है । फिर भी कुछ मूल नारी समस्यायें युगानुसार इन उपन्यासों में अनायास देखने को मिल जाती है । जो निम्नलिखित है ।

4.1.8.1 नारी स्वातंत्र्य की समस्या

वर्मा जी के अधिकांश औपन्यासिक नारी पात्र, ऐतिहासिक चरित्र हैं । इनमें से भी अधिकांश पात्र, राजवंशों से संबंधित है - जैसे रानी लक्ष्मीबाई, महारानी दुर्गावती, महारानी अहिल्याबाई, रामगढ़ की रानी आवंतीबाई । इनके चरित्र आदर्शात्मक रूप में प्रस्तुत हुए

है, अतः इनमें समस्याओं से जुझ जाने का साहस हैं । परिस्थितियों से लोहा लेते हुए दृढ बने रहने की उभग है । वे प्रज्वलित दीप शिखा है जो अपने आलोक से दूसरों का मार्गदर्शन करती हैं । इन आदर्श चरित्रों के अतिरिक्त अन्य जितने भी प्रमुख नारी पात्र जो वर्मा जी के उपन्यासों में आए हैं, उनके समक्ष अपनी स्वतंत्रता को बनाए रखने की समस्या बराबर बनी रही है । कहीं उन्हें माता पिता के नियंत्रण में रहना पड़ा है तो कहीं पति या सास, श्वसुर के नियंत्रण में । 'प्रेम की भेट' उपन्यास की कुंवारी नायिका सरस्वती, अपने स्वजातीय युवक धीरज को हृदय से प्रेम करते हुए भी केवल इसलिए प्राण त्यागने को विवश होती है, क्योंकि उसका पिता कम्मोद उसके व धीरज के प्रणय को स्वीकार नहीं करता । इधर रूढिग्रस्त कम्मोद अपनी एक मात्र मातृवंचिता कन्या का मरण देखा जा सकता है, परंतु धीरज से उसे मिलने तक की अनुमति नहीं दे सकता और इसी तरह से विकल सरस्वती अपनी रूग्णावस्था में मानसिक कष्ट पाते हुए प्राण त्याग देती है ।

'कुण्डली चक्र' का एक उदाहरण देखे - "रतन कुमारी का भाई ललितसेन, क्रान्तिकारी विचारों का होते हुए भी, रतन से उसके विवाह के पूर्व यह नहीं पूछता कि वह भुजबल से विवाह करना पसन्द करेगी या नहीं ? पूना के विवाह प्रसंग पर ललितसेन को अपनी इस त्रुटि का भान होता है और वह मास्टर अजित कुमार से कहता है - "सयानी लड़कियों की मन की बात को कोई पूछता कब है ?"[18]

इसी उपन्यास की महत्वपूर्ण नारी चरित्र पूना, एकाकिनी होने पर भी, भुजबल जैसे नीच वृत्ति पुरूष की, दूसरी ब्याहता पत्नी बनाने के स्थान पर, दृढ़ता के साथ, मास्टर अजितकुमार को बुलाकर अपनी रक्षा कर लेती है । पर इस प्रकार के पात्र कम ही देखने को मिलते है ।

4.1.8.2 दहेज प्रथा

दहेज प्रथा का प्रारंभ ऋषियों-मूनियों की संस्कृति अर्थात् वैदिक युग से ही होता गया था । माता-पिता विवाह के समय नवयुगल को आशीर्वादीलाल के साथ ही, आगामी

जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए सहायता के रूप में धन धान्य और पशु आदि दान के रूप में दिया करते थे । परंतु जैसे-जैसे कन्या पक्ष की दान वृत्ति बढ़ती गई, वर पक्ष लोभी होता गया । उत्तर वैदिक युग से संबंधित उपन्यास 'भुवन विक्रम' में वर्मा जी ने दहेज प्रथा का उल्लेख किया है । वर्मा जी ने राजा रोमक को दहेज के ही लालच में नीलपणि जैसे क्रूर विदेशी व्यापारी की दृष्टा पुत्री हिमानी के साथ अपने पुत्र भुवन की अनिच्छा पर भी विवाह संबंध की स्वीकृति देते दिखाया है वह भुवन से स्पष्ट कहता है - "आर्य लोग पणियों की सुन्दर कन्याओं के साथ विवाह कर सकते है । इसलिए और इस कारण भी कि सोने-चांदी की अपने अनिवार्य कार्यो के लिए अत्यन्त आवश्यकता है । मैंने अपनी तरफ से हामी भर दी है ।"[19]

दहेज का बीभत्स रूप हमें 'आहत' उपन्यास में देखने को मिलता है । उपन्यास में छाया के पिता रामपास को विवाह मण्डप के नीचे से अपने समधी एवं वर को छह हजार नगद रूपये न दे सकने की अवस्था में वापिस जाते देखने की विवशता झेलनी पड़ती है। ऐसे समय में रामलाल द्वारा तीन हजार का चेक दिए जाने पर वर का पिता कहता है - "छह हजार का चेक दो वरना ब्याह नहीं होगा । मैंने अपने लड़के को मुफ्त नहीं पढाया है । बिठलाये रहो अपनी छोकरी को घर में जीवन भर ।"[20]

दहेज प्रथा का इससे अधिक बीभत्स रूप क्या होगा ? बारात द्वार से लोट जाए, कन्या पक्ष के लिए तो यह मरने की बात है । इसी प्रथा के दुष्परिणाम है कि हमारा समाज अपनी युवती कन्या का विवाह वृद्ध तक से कर देने में बुराई नहीं समझता । इसी दुष्प्रथा का परिणाम है कि एक ही पुरूष से कई स्त्रियों का विवाह होता रहा और वे सपत्नियों के बीच अतृप्त जीवन जीती रहीं । निर्धन परिवार की बालायें राज परिवारों में दासी के रूप में शरीर और मन की अतृप्तियों को झेलते हुए भी स्वामी की भोग्या बनकर अपना व अपनी संतानों का जीवन होम करती रहीं ।

4.1.8.3 बहुविवाह

वर्मा जी के अधिकांश उपन्यास मध्य युग से संबंधित है । अतः यथा स्थान इस समस्या का चित्रण उन्होंने अपने उपन्यासों में किया हैं । यह प्रथा उनके उपन्यासों में कहीं समस्यात्मक रूप में सामने आई है तो कहीं अपने स्वाभाविक रूप में । इसका समस्यात्मक रूप राजवंशों से विशेषकर उत्तराधिकार के प्रश्न से संबध्द होकर आया है ।

'मृगनयनी' उपन्यास में इस बात का उल्लेख देखने को मिलता है । 'राई गाँव के स्वतंत्र वातावरण में पत्नी निन्नी को गुर्जर नरेश मान सिंह तोमर की पत्नी बनने के बाद आठ सपत्नियों के सौतिया डाह का केन्द्र बिन्दु बनना पड़ता है । सबसे बड़ी रानी सुमन मोहनी ने उसे एक बार भोजन में एवं एक बार पान के बीड़े में विष देने का असफल प्रयत्न किया । इतना नहीं वह मृगनयनी की प्रतिभा के उत्थान को देखकर एवं राजा मान सिंह के उसके प्रति अटूट प्रेम से जलकुढ कर कई बार उसे अपमानित भी करती है । वह सदैव इसी उधेड़-बून में लगी रहती है कि उसका पुत्र विक्रमादित्य ही ग्वालियर राज्य का उत्तराधिकारी बने । उसे भय बना रहता है कि कहीं राजा मान सिंह मृगनयनी के प्रेम में निमग्न होने के कारण उसी के पुत्र राज सिंह और बाल सिंह को दे । राज्य न सौंप दे । इस प्रश्न को वह जब तक राजा मान सिंह के समक्ष रख कर उन्हें क्षुब्ध करती रहती है । मृगनयनी इस अवसर पर अपूर्व दूरदर्शिता एवं संयम का परिचय देती है । फिर भी बार-बार तीखे व्यंग सहते हुए एक बार उसका क्षोभ वाणी में फूट ही पड़ता है और वह लाखी से कहती है - "मैं नहीं जानती थी कि महल में आठ पहिले से हैं, नहीं तो...."[21]

यह "नहीं तो..." शब्द ही उनकी अर्न्तव्यथा की अभिव्यक्ति कर देता है । आगे अधिक शब्दों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

"इसके अतिरिक्त 'देवगढ की मुस्कान' नामक उपन्यास में भी चन्देल शासक विजयपालदेव की दो पत्नियाँ 'भुवनादेवी' एवं 'मुक्तादेवी' हैं । इसी उपन्यास में राजा गंगोपदेव की सौ पत्नियाँ होने का उल्लेख भी है ।"[22]

यह बहुपत्नि का उल्लेख वर्मा जी के मध्ययुगीन उपन्यास 'टूटे-कांटे' उपन्यास में भी मिलता है ।

4.1.8.4 अनमेल विवाह

अनमेल या मेल विवाह का अर्थ वर और वधू की आयु का असामान्य रूप से अंतर पाया जाना है । सामान्यतः भारतीय परिवारों में तीन वर्ष से लेकर नौ वर्ष-दस वर्ष तक का अंतर विवाह में बाधक नहीं होता । मध्य युग में यह अंतर मृगनयनी व राजा मानसिंह के बीच था । यह अंतर राजवंशों और राज परिवारों में अधिक पाये जाते थे । वर्मा जी के उपन्यासों में ऐसे कई प्रसंग देखने को मिल जाते हैं जहाँ वृद्ध शासकों ने अपनी पुत्री से भी कम आयु की कन्याओं से विवाह अपनी वासना तृप्ति अथवा संतति प्राप्ति की लालसा में किया है । उदाहरण देखिये -

'झांसी की रानी' उपन्यास में 'विधुर राजा गंगाधर राव पुत्र प्राप्ति की लालसा में अधेड़ होने पर भी तेरह वर्षीय मनु से विवाह कर लेते है ।'[23]

इसी प्रकार 'सोना' उपन्यास के ''देवगढ़ के 'राजा धुरंधर सिंह' लगभग पचास वर्ष की आयु में पन्द्रह, सोलह वर्षीय किशोरी सोना से विवाह करने वरयात्रा लेकर डूंगर गाँव जाते है ।''[24]

यह तो सोना से आयु में अधिक बड़े तो है ही, वरन् लंगड़े और आगे के दो दांत बाहर को निकले हुए कुरूप व्यक्तित्व वाले व्यक्ति है । बेचारी सोना अपने पिछले दरिद्र को इस प्रकार राज्य सुख में विलीन होता देखकर ही अपने पति की सारी कुरूपताओं को भुला देती हैं । वर्मा जी के ये पात्रों हमें कहीं भी अपने इस अनमेल विवाह से असन्तुष्ट दिखाई नहीं देते फिर भी पाठक का हृदय कहीं भी इन घटनाओं से विक्षुब्ध हुए बिना रह नहीं पाता ।

4.1.8.5 दासी प्रथा

इस प्रथा का विशेष उल्लेख हमें 'कचनार' उपन्यास में मिलता है । उदाहरण देखिये - "घोमनी के युवा राजा दलीपसिंह की पत्नी कलावती के साथ उसकी दो सहेलिया कचनार और ललिता भी थी । वे वधू के साथ दहेज में आयी थी ।"[25]

वे दासियाँ व्यवहार को सखियों जैसा ही पाती थीं परंतु पत्नी की प्रतिष्ठा उन्हें प्राप्त न थी । इसके अतिरिक्त 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास में भी दासी का उल्लेख हुआ है । 'रानी ल7मीबाई को भी विवाह के अवसर पर सोलह दासियाँ सेवा करने हेतु, राजा गंगाधरराव की ओर से प्राप्त हुई थी ।'[26]

इनही सोलह दासियों में से 'सुन्दर-मुन्दर और काशी ने रानी की स्वतंत्रता संग्राम योजनाओं में बहुत बड़ा योगदान दिया था । इन दासियों को संपूर्ण जीवन अविवाहिता के रूप में ही बिताना पड़ता था । यदि कोई विवाह कर ही लेती थी, तो उस अवस्था में उसको महलों की सेवा से निवृत्तित्व लेनी होती थी । इन दासियों के माता-पिता धन लोलुपता में फस कर अथवा दारिद्रय की विवशता में धन के बदले, इन्हें राजा घरानों की सुदुर्दगी में दे देते थे । फिर या तो वे अपने सौन्दर्य से अपने यौवन काल में राजाओं के विलास की सामग्री बनी रहती थीं या जीवन के स्वाभाविक मार्ग पर जाकर महलों से अलग हो जाती थी । नारी का यह सबसे निरीह और अपमानजनक रूप था ।

4.1.8.6 विधवा प्रथा

वर्मा जी के उपन्यासों में कई नारी चरित्र वैधव्य दुख को भोगते दिखाई दिए है । परंतु समस्या के रूप में केवल एक नारी चरित्र चित्रित हुआ । यह विधवा है 'प्रेम की भेंट' उपन्यास की उजियारी । युवा विधवा उजियारी, मातृ-पितृ हीना तो थी ही, बाल विधवा भी थी । यौवन की सहज स्वाभाविक उद्वेग में वह धीरज की ओर आकर्षित होती है । धीरज अपने आश्रयदाता कृषक कम्मोद की अविवाहित पुत्री सरस्वती की ओर आकर्षित था । परिणामतः उजयारी अपने दलित प्रेम् की प्रतिहिंसा, रूग्णसरस्वती के लिए विष डाल कर खीर पकाने में व्यक्त करती हैं ताकि सरस्वती की मृत्यु के बाद वह धीरज का प्रेम पा सके । दुर्भाग्यवश वह खीर धीरज खा लेता है और ज्वाराक्रान्त हो मर

जाता है और उजियारी क्षुब्ध कम्मोद से यह तक नहीं कह पाती कि धीरज ने विषयुक्त खीर खाई है । युवा विधवा की कुण्ठाओं का, विवशताओं का जितना कारूणिक चित्र इस चरित्र द्वारा किया गया है, वह इसे समस्या के सही रूप में प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त है । संगम उपन्यास में विधवा समस्या का एक उदाहरण देखे -

"इस उपन्यास में 'विधवा गंगा' का विवाह, पं. सुखलाल जाति विरोध करते हुए भी, अपने पुत्र रामचरण से कर देते है । पर अपनी पुत्री राजा बेटी के संबंध में मौन रहते है, जबकि वह भी गंगा की ही तरह बाल विधवा है ।"[27]

राज परिवारों की विधवाएँ - झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, रामगढ की रानी अवन्तीबाई, गोडवाने की महारानी दुर्गावती और इन्दोर की रानी अहिल्याबाई विदेशियों से देश को स्वतंत्रता दिलाने के प्रयत्नों और प्रजापालन में ही अपना वैधव्य बिता देती है । सुशासन, चिन्तन और मनन, देशभक्ति इन्हें वैधव्य के बारे में सोचने तक का अवकाश नहीं देते । अतः इनके समक्ष वैधव्य समस्या नहीं अपितु मात्र दुर्घटना के रूप में आता है ।

4.1.8.7 सती प्रथा

सती प्रथा जैसी क्रूर परंपरा अपने स्मरण मात्र से रोम कँपा देती है । एक मृत शरीर के साथ में किसी जीते-जागते शरीर को अग्नि की लपलपाती शिखाओं के बीच ढकेल देना कितना बीभत्सपूर्ण होता होगा, कल्पना बता सकती है । वर्मा जी के उपन्यासों में इस प्रकार के बीभत्स वर्णन नहीं आये है । फिर भी एकाध प्रसंग कथानक के साथ कथा की मांग के अनुरूप आ ही गए है । 'अहिल्याबाई' उपन्यास में हमें इस प्रकर का प्रसंग देखने को मिलता है । जहाँ, "अहिल्याबाई होलकर की पुत्री मुक्ताबाई, माँ के निषेध पर भी पति की मृत्यु पर उनके शव के साथ ही सती हो गई थी ।"[28]

'महारानी दुर्गावती' में भी राजा दलपतिशाह की मृत्यु पर उनका छोटा भाई चन्द्रसिंह विधवा रानी दुर्गावती से कहता हैं -

"आप सती नहीं हो रही हैं सो उचित ही है, वैसे अपने घर में सती का चलन चला आ रहा है, फिर भी जैसा आप ठीक समझे ।"[29]

पहले तो विवश स्त्री की अपने पति की देह के साथ चिता की भेंट चढा दी जाती थीं और समाज उनकी विवशता को अपने अन्धविश्वास में डुबोकर, कानों को उस ओर से बधिर कर देता था, जिब्हा को मूक कर देता था और चक्षुओं को ज्योतिहीन । पर सती प्रथा जैसी बीभत्स घटना अंग्रेजों द्वारा दंडनीय घोषित कर दिये जाने पर ही समाप्त हो सकी और इस अभिशाप से हमारे समाज को छुटकार मिल सका ।

उपर्युक्त सभी समस्याएँ भारतीय नारी के जीवन से संबंधित हैं । मध्य युग इन समस्याओं के चरम उत्कर्ष का काल था । युगीन स्थितियों ने इस समस्याओं को जन्म दिया और पनपाया भी । कम या अधिक मात्रा है, सोद्देश्य या निरुद्देश्य इन सभी समस्याओं का चित्रण वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में किया हैं । इनके द्वारा भारतीय संस्कृति में नारी का क्या स्थान रहा है, समाज की उनके प्रति धारणा क्या रही है समझने का अवसर प्राप्त हुआ है ।

4.2 उपन्यासों की आर्थिक पृष्ठभूमि

भुवनविक्रम

यह उपन्यास उत्तर वैदिक काल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है । उस समय के समाज की आर्थिक दशा क्या रही होगी, प्राचीन साहित्य में इसका पता लगता है । जन संख्या बहुत कम थी, परंतु उपलब्ध उपजाऊ भूमि भी जन संख्या के अनुपात में बहुत नहीं थी । उत्तर वैदिक-कालीन आर्यो को कृषियोग्य भूमि के स्वामित्व का पूरा ज्ञान था। संभवतः जो सबसे पहले जंगल (झाड़ियाँ) काटकर खेती करता, भूमि उसी की होती थी । केवल 'बलि' (कर) देना पड़ता था । इस काल में लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती था, क्योंकि कृषि-कर्म अन्नमूलक था और आर्यो की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये अधिक अन्न आवश्यक था । अतः खेती आर्यो की आर्थिक व्यवस्था का मूल आधार था । इस काल में कृषि का अधिक विकास हुआ था । वर्ष में दो फसलें उगाई जाती थी, जो शीत ऋतु में बोयी और ग्रीष्म ऋतु में काटी जाती थी । चावल वर्षा में बोया और पतझड में

काटा जाता था । जो और चावल ही आर्यो के मुख्य खाद्यान्न थे । इस विषय में अग्रवाल जी लिखते है - "इस युग में कृषि प्रधान आजीविका बन चुकी थी । कृषि में उन्नति हो चुकी थी । विभिन्न प्रकार की उपज होने लगी थी - जैसे चावल गेहूँ, जो, तिलहन, मूँग, उडद, गन्ना, शारिशाका (शालि), सण आदि ।"[30]

इसके अतिरिक्त सिंचाई के लिये वर्षा और कुएँ तथा नहरों के जल का उपयोग किया जाता था । राजा नहर खुदवाता था । राजा खेती भी करवाता था । एक निवर्तन (बीघा) भूमि लगभग बीस हाथ लंबी और दस हाथ चौड़ी होती थी । जैसे-जैसे उपजाऊ भूमि का विस्तार बढ़ता जाता था, राजा के निवर्तनों की संख्या भी बढ़ती चली जाती थी। इन निवर्तनों में श्रमिकों से खेती करवाई जाती थी । उस काल में अकालों पर अकाल पड़ा करते थे । कई वर्षों तक अकाल पड़ने के कारण कृषक भूमि छोड़ देते थे और राजा वह भूमि ले लेते थे । इस प्रकार राजा एक बड़ा भूमि स्वामी हो गया था । इस प्रकार उसकी सत्ता का वृत्त भी प्रशस्त हो गया था । प्रजा राजा को कर देती थी ।

खेती के अतिरिक्त पशुपालन आर्यो का प्रमुख व्यवसाय था । कृषि कार्य में विकास के साथ-साथ पशुओं एवं विशेषतः गाय, बैलों की महत्ता में वृद्धि हो रही थी । बैलों से खेती का काम लिया जाता था वे विशेषतः हल जोतने और गाड़ी खींचने के काम में लाये जाते थे । उस समय पशुओं का उपयोग न केवल खेती के लिये बल्कि युद्ध के लिये भी वे बहुत काम आते थे । विशेषकर घोड़े और हाथी उस युग की सेना में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे । घुड़सवारी, हाथीसवारी भी उपयोग में ली जाती थी । इसके अतिरिक्त उनकी चिकित्सा और शिक्षण पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था ।

इस युग में व्यवसायों और उद्योग में अत्यधिक वृद्धि और उन्नति हुई थी । जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक पेशे और धन्धे बन गये थे । इस युग के प्रमुख धन्धे और व्यवसाय के संबंध में डॉ. विजय ने लिखा है -

"उत्तर वैदिक साहित्य में रथकार, कर्मार (लुहार), तक्ष, क्षातृ, कुलाल, ईषकृत, घवकृत, मृगद्यु, रज्जु-सर्ग, ज्याकर, वय, मणिकर, सुसकार, विदलकार, कटककार आदि विभिन्न व्यवसायियों का उल्लेख अनेकशः हुआ है ।"[31]

मछेरे, मांस बेचने वाले धोबी, नाई, पत्र ले जाने वाले, जौहरी, टोकरी बनाने वाले, रंगरेज, बढ़ई आदि सब अपना-अपना उद्योग करते थे । पुरूषों के अतिरिक्त स्त्रियाँ भी आर्थिक जीवन का अंग थी । विशेषकर कपडे रंगने, काढ़ने और टोकरे बनाने का कार्य

स्त्रियों का माना जाता था । नट, गायक, नर्तक, जनता का मनोरंजन कर अपना पेट भरते थे । हाथी और घोड़ों के पालकर और शिक्षा देकर, उन्हें जन-सेवा में लगाने वाले भी समाज के प्रमुख अंग थे । वर्मा जी ने भी इस उपन्यास में स्त्रियों के उद्योगिक कार्य की बात की है -

"तुम्हारे योग्य भी काम मिल जाएगा । ऊन का बाटना, रूई का धुनना-कातना, कंडों का थापना, ईंधन का एकत्र करना और ना जाने कितने काम हैं ।"[32]

वस्त्र व्यवसाय का स्थान इस काल में बहुत उँचा था । सत्यकेतु लिखते हैं -

"महाभारत के सभापर्व में उन भेंट-उपहारों का बड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिन्हें अन्य राज्यों के राजा युधिष्ठिर की सेवा में अर्पण करने के लिए अपने साथ लाये थे । इन उपहारों में चोल और पाण्डय देशों के महीन कपड़ों (सुक्ष्म वस्त्र का), सिंहलद्वीप के गद्दों, दक्षिण की पगड़ियों (उष्णीव) उत्तर के रेशम और दुशालों, हिमालय के ऊनी वस्त्रों और रेशम, कम्भोज देश की खालों और प्राच्यदेश के विविध प्रकार के आसनों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनी हैं । (सभापर्व अध्याय 51, 52)"[33]

इस काल के साहित्य अध्ययन से पता चलता है कि विदेशी व्यापार भी उस समय होता था । श्रेष्ठिन या सेठ शब्द का परिचय इसी युग में सबसे प्रथम मिलता था। नावों द्वारा कपडा, मिर्च, मसाले, लोहा, चाँदी, कंबल आदि का आयात निकास का व्यापार हुआ करता था । डॉ. उपेन्द्र ठाकुर के अनुसार "स्थल और जल मार्गो द्वारा व्यापार होता था । बहुत से इतिहासकार ऐसा मानते है कि वैदिक आर्य समुद्र से परिचित नहीं थे यह ठीक नहीं जँचता और वे अपनी पुष्टि में नमक और मछली का उल्लेख करते हैं । पर समुद्र में नौका भंग, ऋतुओं द्वारा रक्षण-कार्य सौ डाँडों वाली नावों, पणियों का व्यवहार और वरूण की समुद्र यात्रा आदि सभी समुद्री यात्रा और व्यापार की ओर संकेत करते है । व्यापार के मार्ग, व्यापारी, विनिमय, मोल भाव, सिक्के, ब्याज आदि की चर्चा वैदिक साहित्य में मिलती है ।"[34]

उपन्यास में भी विदेशी व्यापार का उल्लेख आया है - "सरयु में नावें आती-जाती थीं, जिन पर बड़े व्यापारियों का माल लदता-उतरता था । यहाँ से कपड़ा, मोरों के पंख, मिर्च-मसाले, सुगंध, बढ़िया लोहे के हथियार, जब फसल अच्छी हो तब अन्न तेल, मंजे हुए रस्से इत्यादि बाहर जाते थे बाबूल (बार्वरु) फणिश (फनीलिया), मिन्स अरब इत्यादि देशों को और वहाँ से बढ़िया कंबल, सोना-चाँदी, मोती, मूँगे इत्यादि यहाँ आते थे ।"[35]

उपन्यास के अध्ययन से यह पुष्टि हो जाती है की वर्मा जी ने उत्तर वैदिक कालीन साहित्य का गहराई से अध्ययन किया है और उस युग की तत्कालीन स्थिति को अपने उपन्यास में शामिल किया है ।

आय के संबंध में देखा जाय तो राजा का व्यय प्रजा पर ही निर्भर था । प्रजा राजा को कर के रूप में धन देती थी । 'भूमि कर' प्रधान कर था । "राज कर को उस समय 'बलि' कहते थे ।"[36]

भूमि कर के अलावा उत्तर वैदिक काल में अन्य कर लगाये गये और उनकी वसूली के लिए कर संग्रहकर्ता की नियुक्ति की गई थी । वित्त विभाग की देख-रेख राजा स्वयं करता था । भूमि कर और व्यापार कर आय के प्रमुख स्त्रोत थे । पशु कर लिया जाता था । धनिकों से भी कर लिया जाता था । डॉ. उपेन्द्रनाथ ठाकुर ने उस समय के कर विधान के विषय में लिखा है -

"शासन का प्रबन्ध समुचित रूप से चलाया जा सके इसके लिए, कर का विधान था । कर कई प्रकार के थे । उपज का 1/6, 1/8, 1/10 भाग, पशु एवं सुपर्ण का 1/50, फल-फूल आदि का 1/60 भाग कर के रूप में राजा को दिया जाता था ।"[37]

उपन्यास में भी कर विधान का उल्लेख देखने को मिलता है, जब राजा मेघ फणी से विदेशी मार्ग से आया हुआ लोहा, ताँबा आदि सामनों की वसूली के लिए कर लेता था । उदाहरण - "उत्तर भारत में अयोध्या व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था । अयोध्या में आर्यवणिक और विदेशी पणि (फणिश) इस व्यापार को चलाते थे । इन लोगों के हाथ में जहाँ टीन और लोहे की खानें थीं, इन धातुओं की खुदाई और बनाई-ढलाई का भी काम था । राजा को इनके करों से प्रचुर आय हो जाती थीं ।"[38]

देवगढ़ की मुस्कान

11वीं शताब्दी में भारत की आर्थिक स्थिति विदेशियों के लिए काफि आकर्षण थीं, देश धन, धान्य, विस्तृत उपजाऊ भु-भाग और खनिज पदार्थ आदि से सम्पन्न था । विदेशी व्यापार भी काफी अच्छा था । पीढ़ियों से सम्पत्ति जमा होती रही थी, लोगों ने अच्छी मात्रा में धन संग्रह कर लिया था । इसके अतिरिक्त देश में मन्दिर तो ऐश्वर्य तथा संपति के भण्डार थे । उस समय के मन्दिर की ऐश्वर्य धन-सम्पदा का अनुमान ऐतिहासिक साहित्यों क पुस्तकों द्वारा लगाया जा सकता हैं । 'दिल्ली सल्तनत' नामक पुस्तक में लिखा है -

"नगरकोट से महमूद गजनवी को इतनी राशि मिली कि जितने भी ऊँट मिल सके उनकी पीठ पर धन लाद दिया गया और फिर भी धन बचा रह गया जिसे पदाधिकारियों ने परस्पर बाँट लिया । 70,000 शाही हिरदम के मूल्य के मुद्राँकित सिहके प्राप्त हुए, 7,00,400 मन सोने और चाँदी की शिलाएँ प्राप्त हुई... सोमनाथ का मन्दिर तो ऐश्वर्य और संपति का भण्डार था जिसमें सोने और चाँदी की मूर्तियाँ थीं, रत्नजड़ित पर्दे थे, मन्दिर के घण्टे सोने की ऐसी जंजीरों द्वारा लटके पड़े थे ।"[39]

इस संबंध में डॉ. एस.एल. नागोरी लिखते है -

"भारत प्राचीन काल में सोने की चिडिया कहलाता था तथा उसकी इस आर्थिक समृद्धि ने ही मुसलमानों को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था । आरंभिक आक्रमणकारी महमूद गजनवी ने लूटमार के उद्देश्य से ही भारत पर आक्रमण किया था ।"[40]

उपन्यास में भी वर्मा जी ने महमूद गजनवी के आक्रमण का उल्लेख किया है - "पंद्रह-सोलह वर्ष ही हुए है, महमूद गजनवी ने लूट-खसोट मचाई ।"[41]

प्रस्तुत संदर्भ से उस समय की आर्थिक पृष्ठभूमि की पुष्टि हो जाती है ।

प्रस्तुत काल में राजा सामन्तों तथा उनके परिवार आदि का जीवन वैभवशाली था वे महलों में रहते थे । अच्छे वस्त्र धारण करते थे, उनकी रानियाँ सोने चाँदी के गहनों से सजी रहती थीं । राजा का जीवन विलासमय था । वे एक से अधिक विवाह करते थे । उपन्यास में राजा विजयपाल देव की दो रानियाँ तथा गांगेयदेव की 100 रानियाँ का उल्लेख आया है । इसका विवरण देते हुए वर्मा जी उपन्यास में महिपाल द्वारा कहलवाते है - "राजा अनेक विवाह केवल भोग-विलास के लिए नहीं करते ऐसे परिवारों में संबंध करते हैं जिनसे परस्पर के उपद्रव शांत रहें और राज्य बढ़ाने के लिए बल मिले ।"[42]

व्यापारी की स्थिति अच्छी थी । वे धनी थे । उनके पास काफी मात्रा में धन होता था । उनकी पत्नी सोने-चाँदी के गहनों, कीमती वस्त्रों से सजी रहती थी । वे सोने चांदी के थाल बरतनों में खाना खाया करते थे तथा यजमानों को परोसा करते थे । राजा तथा सामन्त तक उनसे ऋण लेते थे । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है । जहाँ जिसकी पुष्टि हो जाती है - खडग सिंह धनपाल से कहता है - "अपने क्षेत्र की सुरक्षा के लिए सोचा है कि राज्य का विस्तार बढ़ा दें । दो-तीन पहाड़ियों पर दुर्ग बनवा लें और सेना की संख्या बढ़ा लें । इसके लिए एक लाख रूपए की अटक आ पड़ी है । हम आपके

पास इसी के लिए आए हैं । आप जितना ब्याज उचित समझें, लगा लें, मूल के साथ अधिक से अधिक एक वर्ष में लौटा देंगे ।"[43]

अमीरी की तुलना में निर्धन वर्ग का जीवन सामान्य था और निम्न वर्ग की स्थिति दयनीय थी । वे खेती, मजदूरी करते थे । कुछ व्यवसाय भी करते थे । अलबरूनी के अनुसार - "राजा कृषि-उपज का छटा भाग भूमि कर के रूप में लेता था । मजदूरों शिल्पकारों तथा व्यवसायियों को अपनी आय पर कर देना पड़ता थां । ब्राह्मण करों से मुक्त थें ।"[44]

उपन्यास में भी कर का उल्लेख वर्मा जी ने किया है । जब छोटे-मोटे राज्य के राजा संपति के अभाव में किसानों पर लगान बढ़ा देते हैं । देखिए -

"आपका राजा मेरे रजवाडे से बड़ा हैं, किसानों पर लगान थोड़ा सा बढ़ा दीजिए और इधर-उधर के संपतिशालियों पर आँख लगाए रखिए ।"[45]

इसके अतिरिक्त गरीबों के पास रहने के लिए पक्के मकान भी नहीं होते थे वे कच्चे मकानों में यानी घास-फूस वाले घरों में रहते थें । इनके घरों में थोडा सा सामान होता था तथा सने के लिए खाट भी नहीं होती थी ।

गढ़कुंडार

प्रस्तुत उपन्यास में वर्मा जी ने देशकाल के चित्रण में तत्कालीन काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का वर्णन किया है । आर्थिक पृष्ठभूमि का चित्रण एक-दो स्थानों पर ही देखने को मिलता है ।

साधारण जन की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी । उनका मुख्य व्यवसाय खेती था और वे पशु भी पालते थे । इसके अतिरिक्त राजा, सामन्तों की स्थिति अच्छी थीं । उनका जीवन सुखमयी था और वे विलासमय जीवन व्यतित करते थे । भवन में रहते थे और धनी लोगों के पास से ऋण भी लेते थे । फिर भी उनका ऐश्वर्यपूर्ण था । धनी निर्धनों का शोषण करते थें । उनकी आय भी बहुत होती थी उनका लेन-देन खूब फैला हुआ होता था । वे राजा तक को ऋण देते थे । उनके घर नौकर-चाकर होते थे । उनके घर की स्त्रियाँ किमती वस्त्र तथा आभूषण पहनती थी । उदाहरण देखिए - "तारा के पैर में पतली कोर के उज्ज्वल चाँदी के पैंजने । हाथों में सोने के कड़े, पटेले और काँच की

दो-दो चूडियाँ । धोती हलके गुलाबी रंग की पहने हुए जिसका वह लंबा कछोटा मारे हुए थी ।''[46]

मृगनयनी

भारत खेती प्रधान देश है । इस शताब्दी में भी खेती प्रमुख थी । किसान खेती करते थे । जवार, गेहूँ, धान, चना आदि की खेती होती थी । सिंचाई के लिये वर्षा और कुएँ तथा नहरों के जल का उपयोग किया जाता था । राजा नहर खुदवाता था । खेती के लिए पशुओं को भी उपयोग में लिया जाता था । वे विशेषतः हल जोतने और गाड़ी खींचने के काम में लाये जाते थे । हरीशचंद्र वर्मा इस संबंध में लिखते है - ''कृषि की वास्तविक तकनीक के विषय में अधिक जानकारी हमें आज प्राप्त नहीं है । अनुमानतः खेती में अधिकतर यंत्रों की अपेक्षा हाथ से ही काम लिया जाता होगा । सिंचाई के लिए नहरों को खुदवाने, पशुओं को काम में लाने जैसे प्रयत्नों के उल्लेख अवश्य मिलते है ।''[47]

पशुपालन का भी उपयोग प्रस्तुत काल में देखने को मिलता है । खेती के अतिरिक्त साधारण जनता गाय, भैंस, बकरी आदि का पालन करती थी । जिससे उनको पर्याप्त मात्रा में दूद, दही, मक्खन, छास मिल जाता था । कुछ लोग घोड़े तथा हाथी का भी पालन करते थे । क्योंकि वे युद्ध के लिए काम आते थे । इसके अतिरिक्त उनके चिकित्सा और शिक्षण पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था । व्यापारीगण अपना सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने-ले जाने के लिए भी जानवरों का प्रयोग करते थे । बैलगाड़ी के अतिरिक्त ऊँट और खच्चर का उपयोग माल ढोने के लिए होता था । उपन्यास में पशुओं का उल्लेख आया है -

''नरवर के उत्तर में दो कोस पर मगरोनी नाम का गाँव है । वहाँ के बने हुये लोहे ताम्बे इत्यादि के बर्तन भारत में दूर-दूर तक टांढ़ों पर लद कर बिक्री के लिये जाते थे ।''[48]

इस शताब्दी में बंगाल, बिहार, दोआब, मालवा, ग्वालियर, पंजाब, गुजरात, राजपुताना, धोलपुर आदि शहरों का विकास हो चुका था । स्थल मार्गो का अच्छा निर्माण हो गया था, जिससे व्यापार सरल हो सके । '''मिरात-ए-सिकदरी' नामक पुस्तक में गुजरात के सुल्तान महमूद बेगडा के राज्य की सुख-समृद्धि का अच्छा-खासा वर्णन है । उसने व्यापारियों की समृद्धि के लिए व्यापारिक मार्गो की सुरक्षा का उचित प्रबन्धकिया

और स्थान-स्थान पर सरायों का निर्माण कराया ।"[49] इस प्रबन्ध से व्यापारीगणों को माल-सामान लाने-ले जाने में अधिक सुविधा हुई ।

स्थल मार्ग के अतिरिक्त जलमार्ग तथा समुद्रमार्गों द्वारा भी व्यापार होता था । "स्थल मार्ग द्वारा प्रायः व्यापारी माल आगरा से गुजरात के बंदरगाहों पर पहुँच जाता था, जहाँ से इसे पुनः सामुद्रिक मार्ग द्वारा अरब देशों को रवाना कर दिया जाता था ।"[50]

कुछ पुर्तगाली भी थे जो पश्चिमी समुद्र तट पर अपनी सत्ता के विस्तार का प्रयास कर रहे थे । जिसे महमूद बेगडा ने खदेड दिया था । इतिहास में इसका उल्लेख मिलता है -

"अपने शासन के अंतिम वर्षो में उसने पुर्तगालियों से टक्कर ली । यह पुर्तगाली लोग पश्चिमी समुद्र तट पर बस गये थे और कालान्तर में इन्होंने काफी शक्ति बढा ली थी । पश्चिमी समुद्र तट पर पुर्तगालियों की सत्ता स्थापित हो जाने के कारण मुसलमानों के व्यापार को काफि हानि पहुँच रही थीं । सन् 1507 ई. में महमूद ने एक जलपोत तैयार कर पुर्तगालियों पर आक्रमण कर दिया । इस आक्रमण से टर्की के सुलतान ने भी सहयोग दिया क्योंकि स्थलीय व्यापार में पुर्तगालियों के कारण उनको भी क्षति उठानी पड़ती थी । गुजरात तथा तुर्की सम्मिलित जहजी बेड़ों ने मिल कर काठियावाड तट के निकट ड्यू के द्वीप के समीप पुर्तगालियों से सामुहिक युद्ध किया । शायद भारतीय इतिहास में मुसलमानों तथा ईसाइयों का पहला गहरा संघर्ष था । जिसमें पुर्तगालियों की पराजय हुई ।"[51]

उपन्यास में भी वर्मा जी ने पुर्तगालियों का उल्लेख किया है । इसकी पुष्टि संदर्भ पढ़कर हो जाती है ।

"बघर्रा को विदित हुआ कि जुनागढ़ के दक्षिणवर्ती ड्यू टापू पर पुर्तगालियों ने लड़ाई के जहाजों को बड़ी संख्या में जमा किया है । एक बड़ी सेना उतार कर गुजरात में घुसने वाले है । माँडूके आक्रमण को अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर वह पुर्तगालियों का सामना करने के लिये सिन्ध से सीधा गुजरात चला गया ।"[52]

प्रस्तुत काल में राजा सामन्तों तथा मुस्लिम सुलतानों, उनके परिवारों आदि का जीवन वैभवशाली होता था । वे महलों में रहते थे । वे विलासमयी होते थे । वे एक से

अधिक विवाह करते थे । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है कि "राजा मानसिंह की आठ रानियाँ थी ।"[53]

उनकी रानियाँ कीमती वस्त्र तथा सोने के मूल्यवान गहने पहनती थी । इसके अतिरिक्त राजा भी कीमती पोषाक तथा रत्नजड़ित हार आभूषण पहनते थे । "राजा के सिर पर बढ़िया, रेशमी, रंग-बिरंगा मुड़ासा था, जिस पर जड़ाऊ कलगी और लिपटी हुई मुक्तामालग गले में सोने का रत्नजडित हार ।"[54]

रेशमी कपड़ों का उत्पादन प्रस्तुत काल में हो चुका था । इस विषय में हरीशचंद्र लिखते है -

"सूती कपड़े के अतिरिक्त रेशमी कपड़ें की बुनाई में भी विकास हुआ था क्योंकि रेशम के कीडे पालने की प्रथा दिल्ली सल्तनत में ही प्रचलित हुई ।"[55]

अमीर वर्ग की तुलना में गरीब वर्ग की स्थिति दयनीय थी । किसान खेती करते थे । परंतु बार-बार युद्धों, संघर्ष, विद्रोहों और बगावतों के कारण किसान ठीक ढ़ग से खेती नहीं कर पाते थे । और यदि कुछ खेती हो भी जाती थी तो जंगली जानवरों द्वारा नष्ट हो जाने का डर लगा रहता था । इस दयनीय स्थिति के कारण लोग शिकार कर के तथा कन्दमूल खाकर अपना पेट भरते थे । इसके अतिरिक्त उन्हें युद्ध तथा बार-बार आक्रमण होने के कारण ईंट-पत्थर के मकान न बनाकर कच्चे घास-फूस वाले मकानों में निवास करना पड़ता था । उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में ही गरीबों की दयनीय स्थिति का उल्लेख वर्मा जी ने किया है -

"आक्रमणकारियों के चले जाने के बाद इधर-उधर बचे-खुचे, तितर-बितर, छिपे-लुके ग्रामीण अपने निवास स्थानों के लिये निकल पड़े । कुछ अपने पुराने स्थानों पर चोंकते-चोंकते से आ गये, कुछ ने जंगल पहाड़ों में होकर बहने वाली किसी नदी का किनारा जा पकड़ा और नये सिरे से गाँव बसा लिया । इन्होंने भी इतिहास को दुहराया । जो लोग मांसाहारी थे उन्होंने जंगल के जानवरों से पेट भरा, जो निरामिष भोजी थे, दुष्प्राप्य जंगली फल-फूल और अपने थोड़े से पालतू पशुओं के दूध-दहीं पर प्राणों की रक्षा करने लगे ।"[56]

पोशाक में पुरूष फटी मेली धोती पहनते थे । स्त्रियाँ अरोजों पर मोटे कपड़ों की चोली तथा चिथड़ों के पायजामे पहनती थी । कुछों के पास मोटी ओढ़नी भी होती थी । कई जनता इतनी गरीब थी कि वे आधा तन ही ढक पाती थी तथा फटे हुए कपडे

पहनती थी । और जंगली पेड़ों के पत्तों से तन ढकती थी । आभूषण में उनके पास पित्तल तथा कांसे के गहने तथा किसी के पास चाँदी की हँसुली होती थी । तो किसी के पास कोई भी गहना पहनने को नहीं होता था । उपन्यास में इसका उल्लेख वर्मा जी ने किया है -

"नंगे पैरों, नंगे हाथों स्त्रियाँ कबतक और कैसे रह सकती है ? तिथि त्यौहारों पर भी बिना कड़ों और चूड़ा के, पैर और हाथ, आँखों में आँसू ला देते है । यह बात पुरूषों के मन में छिदी हुई थी ।"[57]

महारानी दुर्गावती

प्रस्तुत काल में भी खेती मुख्य व्यवसाय था । कृषक खेती करते थे । अधिकांश जनों का जीवन निर्वाह खेती द्वारा होता था । साधारण फसलों के अतिरिक्त गेहुँ, जो, चना, मटर तथा तिलहन, गन्ना, नील आदि देश के सभी भागों में पैदा होता थां । खेती करने का तरिका वही था जो आजकल है । जिनकी स्थिति अच्छी थी - वे बैलों द्वारा हल चलाते थें और कुछ ऐसे गरीब लोग भी थे जिनके पास हल चालाने के लिए बैल नहीं होते थे तो वे गाय द्वारा हल चलाते थे । उपन्यास में गोंडवाने के किसानों की स्थिति का वर्णन आया हैं । रानी दुर्गावती के पूछने पर गोंड उत्तर देता है -

"गोंड ने बताया - मैं हल जोत रहा था, इन्होंने रोका और कहा कि गायों से हल मत चलवों । हमारे यहाँ पुरानी रीति चली आई है कि बैल न हों तो गायों से जोत करा लों । ये गाएँ दूध देती न थीं तो मैंने हल में जोत लिया । महारानी जी, बतलाइए मैंने क्या बुरा किया ?"[58]

किसानों को भूमि कर देना पड़ता था । इसके बाद लुटेरों और आक्रमणकारियों से जो कुछ बच पाता, उसी में उन्हें संतोष करना पड़ता था । इसके अतिरिक्त किसान कभी अतिवृष्टि तो कभी अनावृष्टि से दुखी रहते थे । अकाल से इन्हें भारी मात्रा में नुकसान होता था । श्री वास्तव जी ने 'भारत का इतिहास' नामक पुस्तक में लिखा है "जिस देश में फसलें वर्षा पर निर्भर होती है, वहाँ पर ठीक समय पर वर्षा न होने से अकाल पड़ जाता है । उत्तर-पश्चिमी भारत 1555-56 ई. अर्थात् अकबर के शासन के प्रथम वर्ष में अकाल से पीड़ित हुआ था ।"[59]

उपन्यास में भी अकाल का वर्णन वर्मा जी ने किया है । जब रानी दुर्गावती अकाल से पीड़ित जनता की मदद करती है और उनकी लगान माफ कर देती है । "यदि तुम लोगों को पानी बरसने से हानि हुई तो लगान की कमी पर विचार किया जाएगा, फसल तो आने दो । जिनकी खेती को ओलों ने नष्ट किया है उनकी सहायता अभी की जाएगी ।"[60]

किसानों के अतिरिक्त मजदूर, शिल्पी आदि निम्न वर्ग भूखमरों जैसी स्थिति से पीड़ित होते थे तब दुर्गावती राजकोष के धन द्वारा उनकी मदद करती थी । जनता की सुख सुविधा को बढाने, उन्हें सुख-समृद्ध बनाने की सारी योजनाओं को वे कार्यान्वित करती है । पानी की व्यवस्था तथा नए-नए तालाबों का निर्माण करना, पुराने तालाबों का मरम्मत, अच्छे बैलों की व्यवस्था आदि जनहित कार्य करती हैं ।

खेती के अतिरिक्त कुछ उद्योग-धंधे गोंडवाना में प्रचलित थे, किंतु नाममात्र के ही । गोंडवाना में पितल बनाने का काम, चीचली गाँव में कांसे के बनाने का काम, तेदूखेडा गाँव के गाँडियों की घाऊ बनाने का काम आदि उद्योग होते थे । कुछ व्यापारी ऐसे भी थे जो काफी धनी थे और वे ब्याज पर धन देते थे ।

आर्थिक दृष्टि से समाज दो वर्गो में विभाजित था उच्च वर्ग और निम्न वर्ग । सुल्तान, बादशाह, उनके परिवार के अन्य सदस्य, सरदार, मनसबदार, स्थानीय राजाओं, महाराजाओं, जमींदार, बड़े व्यापारी सभी उच्च वर्ग में आते थे । जिन्हें धन की कोई कमी नहीं थी । अतः उनका जीवन सभी सुखों से परिपूर्ण, ऐशों-आराम तथा विलासमय था । उपन्यास में कीर्तिसिंह के शयनकक्ष का वर्णन करते हुए वर्मा जी लिखते है -

"मोटा दुशाला ओढ़े पलँग पर बैठे थे । पास में एक बड़ा नक्काशीदार तख्त बिछा था, जिस पर कारचोबी के रंग-बिरंगे मोटे मुलायम गद्दे पर मखमली तकिये लगे थे । पास ही गद्दीदार चौकियाँ रखी थी । सोने के जडाऊ थाल थाल में पान के बीड़े रखे हुए थे - महोबे के पान के ।"[61]

इसके अतिरिक्त वे और उनकी स्त्रियाँ कींमती वस्त्र तथा आभूषण धारण करते थे और सोने के बर्तनों में भोजन ग्रहण करते थे । वे गरीबों को उपहार आदि भी दिया करते थे । उनके पास युद्ध में विजय प्राप्त कर अन्य राजा से जीतकर वसुल किया गया अपार धन होता था । इसका जीक्र भी उपन्यास में आया है । दुर्गावती राजा दलपति शाह के मृत्यु के बाद प्रजा की मदद करने के लिए युद्ध में जीता हुआ धन का उपयोग

करती है। जो दलपति शाह के पिता संग्राहमशाह ने अलाउद्दीन खलजी से युद्ध के विजय पर वसुल किया था । उदाहरण देखिए - जब दुर्गावती दीवान जी से कहती है -

"दीवानजी - राज्य का खजाना है काहे के लिए ? खजाने में सोना-चाँदी का कुछ अंश प्रजा का दिया हुआ है और कुछ दूसरे राजाओं को जीतकर उनसे वसूल किया गया हैं -

'विपद् काल के लिए, महारानी जी ?'

'विपद् काल के लिए कुछ अवश्य रख लिया जाय, शेष जनहित कार्यो में लगा दिया जाय ।'"[62]

अलाउद्दीन खीलजी के खजाने का उल्लेख ऐतिहासिक ग्रंथों में भी आया है । उदाहरण के लिए -

"आसफखाँ में चौरागढ़ के किले में एक बड़ा धनकोष अपार मात्रा में शुद्ध और सिक्कों के गप में सोना-चाँदी हस्तगत किया । इसमें अलाउद्दीन खीलजी की अशर्फियों से भरे सौ बड़े देग, सुसज्जित चाँदी के बर्तन, रत्नमोती, रत्नजड़ित मूर्तियाँ, ठोस सोने की बनी पशु मूर्तियाँ और अन्य वस्तुएँ थी ।"[63]

एक ओर सामंत वर्ग के लोग ऐशोआराम तथा विलासमय जीवन व्यतीत करते थे तो दूसरी ओर श्रमिक वर्ग खेती तथा मजदूरी करके अपना जीवननिर्वाह करते थे । कभी अतिवृष्टि तो कभी अनावृष्टि हो जाने पर वे वन्य-पशुओं के आखेट अथवा जंगली फलों से काम चलाते थें । कुछ श्रमिकों की स्थिति इतनी दयनीय थी कि उनके पास पहनने के लिए पुरे वस्त्र भी नहीं होते थे । वे अर्धनग्न अवस्था में रहते थे । उपन्यास में वर्मा जी ने साधारण गोंडों का जीवन चित्रित करते हुए लिखा है -

"मार्ग में बड़े-पुरावे या गाँव कम मिले, दो-दो चार-चार टपरों के गाँव अधिक । दीन दरिद्र साधारणजनों के समूह के समूह मिलते रहे । पुरूष और बालक थोड़े-थोड़े से ही वस्त्रों से ढँके हुए, स्त्रियाँ भी कठिनाई से अपने तन ढँके ।"[64]

विराटा की पद्मिनी

प्रस्तुत उपन्यास की पृष्ठभूमि 1712वीं से 1720वीं तक के तत्कालीन काल से संबद्ध है । इस शताब्दी में भी खेती, गेहु धान की खेती होती थी । किसानों को भूमि कर देना पड़ता था । आये दिन आक्रमण होते रहते थे, लूटपाट मची रहती थी, किसानों को लूटेरों और आक्रमणकारियों को भी फसल का कुछ भाग देना पड़ता था । उसके बाद

आक्रमणकारियों से जो कुछ बचता उसी में उन्हें गुजारा करना पड़ता था । आये दिन युद्ध होते रहते थे परंतु किसानों के पास युद्ध से बचने का कोई सहारा नहीं होता था क्योंकि वे अपनी बची-कुची भूमि को बचाने में लगे रहते थे । उपन्यास में किसानों की दशा का उल्लेख करते हुए वर्मा जी लिखते है -

"पालर के और पड़ोस के निकटवर्ती ग्रामीणों ने इस बात को समझ लिया । जंगलों और पहाड़ों की भयंकर गोद में छिपे हुए छोटे-छोटे गढपतियों की शरण के सिवा और आसरा न था कोई कहीं और कोई कहीं चला गया । रह गए अपने घरों में केवल दीन-दीन किसान जो हल-खेती छोड़कर कहीं न जा सकते थे । उन्हें पेट के लिए, राजा के लगान के लिए, लुटेरों की पिपास के लिए खेतों की रखवाली करनी थी ।"[65]

लूटपाट आक्रमणों के कारण गरीब जनता को राजा द्वारा भी कभी-कभी कोई आसरा नहीं मिलता था । गरीब जनता अपने भाग्य के भरोसे रहती थी । आक्रमण के समय प्रजा-जंगल पहाड़ों में छुप जाया करती थीं । या फिर गढपतियों की शरण में चली जाया करती थीं । उपन्यास में वर्मा जी लिखते है - "जिस समय बड़े-बड़े राजा और नवाब अपनी विस्तृत भूमि और दीर्ध संपति के लिए रोज-रोज खेर मनाते थे, अपने अथवा पराए हाथों अपने मुकुट की रक्षा में व्यस्त रहते थें और उसी व्यस्त अवस्था में बहुधा दिन में दो-चार घंटे नाच-रंग, दुराचार और सदाचार के लिए भी निकाल लेते थें, उस समय प्रजा अपनी थोडी सी भूमि और छोटी-सी संपति के बचाव की फिक्र करते हुए भी देवालयों में जाती थीं ।"[66]

अहिल्याबाई

तत्कालीन काल में किसानों की स्थिति अच्छी थीं । लगान के अलावा किसी प्रकार का कर किसानों पर नहीं था । इस सुविधा से किसान सुखी थे । फसले भरपुर होती थी । प्रजा को खाने-पीने की कभी कोई कमी नहीं होती थी । अनाज से किसानों के घर तथा मंडिया भरी रहती थीं । इस संबंध में पुनम जी लिखती है - "शासनरूढ़ होते ही अहिल्याबाई ने खेती और किसानों की उन्नति की ओर ध्यान दिया । वह खेती के महत्व को अच्छे से जानती थी । खेती और किसानों के लाभ के लिए उन्होंने बहुत से अच्छे कार्य किए । किसानों को उन्होंने सब तरह की सुविधाएँ दी तथा उन्होंने कर्मचारियों को यह आदेश भी दिए कि किसानों की सुविधाओं को दूर करने में देरी न करें । यदि किसी वर्ष वर्षा की कमी से फसले कम होती, तो किसानों को लगान में छुट-छाट दी जाती थीं।

इसके अतिरिक्त सेनाओं के आगमन आदि के कारण फसलों को नुकसान होता तुरंत उसकी भरपाई कर दी जाती थी ।''[६७]

इसके अतिरिक्त गरीबों को निसहायों को जिसके पास रहने के लिए घर, खाने के लिए अन्न भी न होता तो अहिल्याबाई उन्हें अपने महेश्वर भवन में रहने की अनुमति भी देती थी । उस भवन में गुगों, बहरों, लँगडे-लूलों की भी मदद करती थीं । उन्हें भरपूर भोजन तथा वस्त्र भी देती थी । महेश्वर में अधिक निसहायों की अधिक संख्या हो जाने पर उन्होंने उनके लिए मकान भी बनवाये थे । उपन्यास में वर्मा जी ने इसका उल्लेख किया है - ''मंदिरों और मूर्तियों के बनानेवाले, राज-कारीगर इत्यादि, बारीक और मोटे कपड़े बुननेवाले दूर-दूर से आकर महेश्वर में बस गए थे । उन पर अहिल्याबाई को बहुत स्नेह था । जब कारीगरों-मजदूरों के पास रहने के मकानों का अभाव हो गया तब उन्होंने उनके लिए मकान बनावा दिए । किसी को भी घर की कमी न थी ।''[68]

उनकी करूणा एवं स्नेह मनुष्यों पर ही नहीं बल्कि पशु-पक्षियों पर भी थी । इस संबंध में हिरालाल शर्मा लिखते है - ''गो को वे बहुत मानती थी । राज्य की और से अनेक स्थानों पर गायों व बछड़ों को घास-दाना आदि नियमित रीति से दिया जाता था । वनों तथा गावों के बाहर गाय-बैलों के चरने के लिए भूमि छोड़ी गई थी और जलाशय भी बनाए गए थे । पशु पक्षियों के लिए अनाज के भंडार व फसलों से भरे कई खेत खरीद कर छोड़ दिए जाते थे । चीटियों के लिए आटा व मछलियों के लिए आटे की गोलियाँ बहुत बड़ी मात्रा में नित्य छोडी जाती थी । पशु-पक्षियों की इस सेवा के लिए वे एक बड़ी धनराशि खर्च करती थी और इस हेतु उन्होंने कई कर्मचारी नियुक्त किए थे ।''[69]

तत्कालीन काल में युद्धों द्वारा लूटा हुआ धन राज्य के पास आता ही था तथा वे कर वसूली भी करते थे । शाहुकार किसानों से केवल खेती का लगान वसूल करते तथा राजपूतों साहुकारों से चोप वसूली करते थें । इसके अतिरिक्त अन्य राज्यों से कई वस्तुओं पर तथा कई सरकारी खजानों पर भी चौधवसूली जाती थीं । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है । उदाहरण देखिए - ''एक का बारह सौ रूपए से उपर इसलिए सरकारी में जमा करा लिया गया था कि वह बेवारिस मरा है । मृत व्यक्ति का एक भाई दावेदार हुआ । अहिल्याबाई प्रमाण से संतुष्ट हो गई । सरकारी चौध काटकर उन्होंने वारिस को आने-पाई से कुल रूपया लौटा दिया ।''[70]

इनके राज्यकोष के बारे में ऐतिहासिक पुस्तक 'अहिल्याबाई' में लिखा है -

"कोष में मल्हारराव के स्वर्गवास के समय सोलह करोड़ रूपये जमा थे । इस धन को मनचाहे ढंग से खर्च करने के लिए अहिल्याबाई पूर्ण स्वतंत्र थी । उन्होंने इस सारे धन को शिवार्पण कर, उस पर बिल्व-पत्र रख दिया । उन्होंने इस कोष में भी वृद्धि की । यह सारा धन उन्होंने दान-धर्म में ही खर्च किया । इसी कोष में से उन्होंने देशभर में अगणित मंदिर बनाए । अनेक लोकोपकारी निर्माण-कार्य करवाए व दान-धर्म की सतत बहने वाली पावन सरिता प्रवाहित की ।"[71]

अहिल्याबाई के शासनकाल में शुरूआत में राज्य की स्थिति सोचनीय थी । परंतु बाद में उसमें परिवर्तन आने लगा । उन्होंने सड़कों के निर्माण करवाए तथा भुखों के लिए अन्नक्षेत्र, प्यासों के लिए जगह-जगह प्याऊ बिठलाई । मंदिर बनवाए, धर्मशालाएँ भी बनवाई, इसकी पुष्टि 'भारत की आदर्श नारियाँ' नामक पुस्तक पढ़कर हो जाती है । पुस्तक में लिखा है - "रानी अहिल्याबाई ने भारत के विभिन्न भागों में अनेक मंदिरों, धर्मशालाओं और अन्नक्षेत्रों का निर्माण कराया था । कलकत्ता से बनारस तक की सड़क, बनारस में अन्नपूर्णा का मंदिर, गया में विष्णु मंदिर उनके बनवाये हुए है । इन्होंने घाट बंधवाए, कुओं और बावडयियों का निर्माण करवाया, मार्ग बनवाए, भूखों के लिए सदाव्रत (अन्नक्षेत्र) खोले, प्यासों के लिए प्याऊ बिठलाई, मंदिरों में विद्वानों की नियुक्ति शास्त्रों के मनन चिंतन और प्रवचन हेतु की । उन्होंने अपने समय की हलचल में प्रमुख भाग लिया ।"[72]

माधवजी सिंधिया

किसानों की स्थिति अत्यंत असंतोषपूर्ण थी वे बड़ी मुश्किल से खेती करके अपना गुजारा कर पाते थे । दक्षिण भारत में भी यही स्थिति थी । उन्हें चौथ, सरदेशमुखी, मुकासा, घासदाना आदि करों से दबे रहना पड़ता था और साथ-साथ खेती की लूट-खसाट भी होती थी । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है -

"उत्तर भारत में किसान शान्तिपूर्वक अपनी खेती कर ले और मंदिर में चुपचाप पूजा, तो मानों राजनीति और शासन-व्यवस्था चरम आदर्श प्राप्त हो गया ।"[73]

सैनिकों की स्थिति में भी कुछ सुधार देखने को नहीं मिला था । क्योंकि उन्हें राजा, सरदारों, सामंतों की तरफ से ठीक से वेतन नहीं मिल पाता था । 1-2 महीनों तक वे अपने वेतन से वंचित रहते थे । "पुना में न पेश्वा के पास रूपया था और न बाहर

होलकर, सिंधिया इत्यादि के पास । बरस-बरस दो-दो बरस तक सिपाहियों की वेतन बाकी में पड़ा रहता था ।"[74]

इसका उल्लेख इतिहास में भी आया है जिसकी पुष्टि हो जाती है, कि "बाजीराव पेशाव के समय से ही सैनिकों की आर्थिक स्थिति दयनीय थी कैलाश खन्ना लिखते है ।" "पेशवा बाजीराव काफी व्यक्तिगत फर्जा छोड़ गया था । इस प्रकार आरंभ से ही बालाजी कठिनाइयों से घिरा हुआ था ।"[75]

सैनिक वेतन से तो वंचित रहते ही थे इसके अतिरिक्त उन्हें भरपेट खाना भी नहीं मिलता था । उन्हें कभी-कभी भूखे पेट सोना पड़ता था । और कई तो भूख के कारण अपनी जान भी खो देते थे । पानीपत के युद्ध में पराजय का एक कारण यौद्धाओं की पर्याप्त भोजन की कमी भी थी । सदाशिवराव, पेशवा की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी इस कारण वह सैनिकों को गाद्य सामग्री तथा जरूरत की सामग्री दे नहीं पा रहे थे तथा उसके पास पडोसी राज्य से भी कोई मदद नहीं मिल पा रही थी । उपन्यास में वर्मा जी ने सैनकों की दशा का वर्णन इस प्रकार किया है -

"ठंड बहुत कडाके की । कपड़ों की कमी, भूखे ठंड और बीमारी के कारण मरने लगे । मलमूत्र त्याग के लिए सिपाही खियों से बाहर नहीं निकल पा रहे थे । मुरदों के जलाने तक के लिए इंधन न रहा । सड़ाँधों के मारे नाकों दम आ गई । पूना से अन्न-धन तो कुछ न आया.... ।"[76]

भारतीय सेना के अतिरिक्त जानवरों की भी यही दशा थी । "भूख के मारे तोपखाने के बैल इतने निर्बल पड़ गे है कि बेहिसाब मर उठे है ।आज ही तीन हजार बैल मौत के मुँह में जा चुके है । यही क्रम बना रहा तो तोपे ढोने के लिए भी बैल न बचेगा।"[77]

ऐसी ही स्थिति में मराठा सैनिकों के पानीपत का युद्ध लडा और वे पराजित हुए । भारतीय सेना की ऐसी दयनीय स्थिति का इतिहास में भी उल्लेख आया है । खन्ना जी लिखते है कि "भाऊ आपनी भूल और अपनी सेना के गलत संचालन से दोआव को खो बैठा । वह रसद का प्रबन्ध न कर सका और तीन महीने तक अब्दाली के सम्मुख पड़ा रहा । उसने ऐसी स्थिति में युद्ध किया जबकि मराठा-सैनिकों को दो महीने से पर्याप्त भोजन तक प्राप्त नहीं हो रहा था ।"[78]

उपरोक्त संदर्भ से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि वर्माजी ने 18वीं शताब्दी के साहित्य का बड़ी गहराई से अध्ययन किया है । और उसे अपनी लेखनी में शामिल किया है ।

इस शताब्दी में मुगलों तथा अफघानों की स्थिति अच्छी थी । उनके सैनिकों को समय अनुसार वेतन मिलता था तथा भरपेट खाना और युद्ध में भी यौद्धाओं को सुरक्षित वस्त्र भी मिलते थे । उदाहरण देखिए -

"उसके प्रत्येक सैनिक के पास रोटी और भुना हुआ मांस तथा चपड़े की सुराहियों में पीने के लिए जल था । कपड़े गरम, हर एक पलटन और रिसाले की पहचान के लिए टोपी और कुले का रंग अलग-अलग । सवार सब लोहे के कवचों से रक्षित । हथियार नए और भरपूर । भारतीय सेना के पास भोजन उतना ही था जितना पेट में डाला जा चुका था । कपड़ों के नाम पर शरीर में चिथड़े, बहुत से केवल धोती पहने और सिर पर फटा हुआ मुड़ा सा बाँधे हुए । भाले और खाँड़े लबे । तीन कमान और ढालें भी । घोड़ें को छड़कानेवाली हवाईयाँ जो भीड़ पर पड़ने से हताहत भी कर सकती थी । बंदूके जितनी मार थोड़ी दूर की और... गोली की शक्ति मारने की कम और केवल घायल करने की अधिक ।"[79]

टूटं काँटे

क्योंकि यह 18वीं शताब्दी से संबंधित उपन्यास हैं इसलिए इसका भी धार्मिक परिवेश माधवजी सिंधिया जैसा ही है । प्रस्तुत काल में समाज दो वर्गों में बटा था । गरीब और अमीर । राजा, सामंतों का जीवन अत्यंत विलाश पूर्ण था वे ठाठबाट से रहते थे । उनके पास अनेकों नर्तकिया होती थी वे मूजरा, नर्तकों का नृत्यगान देखकर अपना समय बिताते थे । नर्तकीयों के रूप एवं नृत्य पर वे प्रसन्न होने पर वे उन्हें सोने का उपहार दान देते थे तो कभी अनेकों रूपये । उपन्यास में इसका वर्णन आया है -

"यह हार तुम पर न्योछावर है, सादतखाँ ने अपने अपनी अर्चना भेंट की ।

सादतखाँ ने उसको हार पहनाना शुरू किया । सिर पर से रेशन का दुपट्टा खिसककर केशों की लंबी लट पर से फिसलता हुआ छहर गया । हार धीरे-धीरे गले में आ गया । नूरबाई मस्ती के साथ हार को निरखने लगी । मुसकान और बनावटी रिस ने विदा ले ली और आँख पर निरीक्षण का कुतूहल आ बैठा । भोलेपन के साथ नूरबाई ने पूछा, 'बहुत कीमती होगा यह तो, हुजूर ?'

सादतखाँ ने उल्लास के साथ उत्तर दिया, बहुत कीमती तो नहीं है, सिर्फ पांच लाख रूपए का है ।"[80]

अमीरों की तुलना में गरीबों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी । किसान, मजदूर आदि गरीबों की श्रेणी में आते थे । उनके पास रहने के लिए कच्चे मकान तथा खाने के लिए ठीक से अन्न भी नहीं होता था और ना हीं पहनने के लिए कपड़े । उपन्यास में मोहनलाल की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए वर्मा जी लिखते है, "सिर पर फटा हुआ, इधर-उधर भागता-सा मुड़ासा, मैली तनीदार अँगरखी के ऊपर मोटी मैली-कुचैली और कई छेदोंवाली चादर । एक पैर का जूता फटा हुआ ।"[81]

अपनी दयनीय स्थिति के लिए गरीब प्रजा अपने भाग्य को जिम्मेदार मानती थी । देखिए उपन्यास में एक स्थान पर रनी सोचती है -

"बहुत से लोग ऐसे हैं जिनके यहाँ अच्छे बरतन है बड़ीया कपड़े है और सोने-चाँदी के गहने भी । इनका भाग्य बड़ा है । भगवान के यहाँ से वे यह सब लिखा लाए हैं । क्या मेरे भाग्य में कुछ भी नहीं लिखा है ? क्या केवल पीसना-कूटना, खाना बनाना और और भैंस के निहोरे करते रहना ही लिखा लाई हूँ ?" [8]

इसके अतिरिक्त खेती, व्यापार, उद्योग आदि का भी वातावरण भी यथार्थ है जो तत्कालीन वातावरण के अनुकूल है ।

झांसी की रानी

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापित होने से कृषि संबंधी नीति के कारण किसान लगातार गरीब हो रहे थे । उनका भूमिकर बढ़ा दिया गया था और जो किसान समय पर कर नहीं चुका पाते थे उनकी जमीन को नीलाम कर दिया जाता था । जिससे किसानों की दशा और भी दयनीय हो गई थी । इसके अतिरिक्त बार-बार अकालों पड़ने के कारण उनकी स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई थीं । अकालों का उल्लेख इतिहास में मिलता है -

"1812 ई. में वर्षा न होने के कारण बम्बई, गुजरात, राजपूताना तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के कुछ भागों में अकाल पड़ गया । 1815 ई. में अकाल समाप्त होने के कुछ लक्षण प्रकट हुए ही थे कि 1815 ई. में कच्छ और काठियावाड़ में टिड्डियों और चूहों के प्रकोप के कारण फसलें नष्ट हो गई । 1815 ई. से 1832 ई. के बीच देश के

किसी-न-किसी भाग में अकाल का प्रकोप रहा । 1832 ई. से 1834 ई. के बीच रोहतक, दिल्ली, अजमेर, दक्षिणी, मद्रास के कुछ भाग, मैसूर, हैदराबाद, गुजरात, खानदेश आदि कुछ क्षेत्र अकाल की चपेट में आ गये । 19वीं शताब्दी का सबसे भीषण अकाल 1837-38 ई. में पड़ा, जिससे दिल्ली तथा इलाहाबाद के बीच का भाग तथा संपूर्ण राजपूताना इससे प्रभावित हुआ । इस अकाल से लगभग 3 करोड़ लोग प्रभावित हुए ।"[83]

इसके अतिरिक्त औद्योगिक स्थिति भी अत्यंत दयनीय थी । भारतीय आर्थिक समृद्धि का प्रधान कारण सूती कपड़ा तथा हथकरधा उद्योग था । 1816 तक भारत सूती कपडों के साथ-साथ सूती कपड़ों से बनी वस्तुओं का भी निर्यात करता था । परंतु 1833 ई. के बाद मुक्त व्यापार का सबसे पहला प्रहार भारत के कपड़ा उद्योग पर हुआ । ब्रिटीश सुती कपड़ा उद्योग को विकसित करने के लिए भारतीय निर्माताओं के साथ सीमा शुल्क में भेदभाव का सिलसिला शुरू किया । "भारत में आयात होने वाले ब्रिटिश सूती तथा रेशमी कपड़ों पर जहाँ 3 से 5 प्रतिशत तथा ऊनी कपड़ों पर 2 प्रतिशत कर देना पड़ता था, वहाँ ब्रिटेन को निर्यात किये जाने वाले भारतीय सूती कपड़ों पर 10 प्रतिशत, रेशमी कपड़ों पर 20 प्रतिशत और ऊनी कपड़ों पर 30 प्रतिशत टेक्स देना पड़ता था । परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में बनी सूती कपड़ों की भारत में खपत बढ़ती गई तथा भारत में बने सूती कपड़ें के निर्यात में कमी आती गई ।"[84]

वस्तुतः कम्पनी तथा ब्रिटिश पूंजीपतियों ने मिलकर भारत के उद्योग-धन्धों तथा व्यापार को नष्ट कर दिया था और भारतीय वस्तुओं को युरोपीय बाजारों से निकाल दिया था ।

रामगढ़ की रानी

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक 1857 के स्वतंत्रता संग्राम से संबद्ध है । सन् 1817 ई. की क्रांति के पहले संपूर्ण उत्तरी भारत में छोटी-छोटी रियाशतों एवं लोगों को क्रांति में शामिल होने का बुलावा किया गया था तथा इसके प्रतीक के रूप में लाल कमल का फूल और रोटी भेजी गई थी । इस क्रांति में अनेक भारतीय लोगों ने अपना सहयोग दिया था।

"भारतीय इतिहासकार पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार यह भारत का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम कहा था । यह सत्य है कि इस क्रांति का नेतृत्व मुगल सम्राट बहादुरशाह तथा कुछ अन्य रियासतों के राजा-नवाबों आदि के हाथ में था । फिर भी,

उन्हें भारतीय सैनिकों का सहयोग प्राप्त था । इसमें कोई सन्देह नहीं कि क्रांति का क्षेत्र व्यापक था और असंख्य देशभक्त इसमें रूचि ले रहे थे ।''[85]

उपन्यास में भी 1857 की क्रांति का उल्लेख जिसमें अवंतीबाई अंग्रेजों से लोहा लेती है और अपनी आखरी सांस तक उनसे लड़ती है । उदाहरण देखिए -

"रानी बंदूक चला रही थी, कभी लेटकर, कभी बैठकर । उमरावसिंह बिलकुल निकट था । वह आगे बढ़कर लड़ना चाहती थी कि बाएँ हाथ में गोली लगी, बंदूक छूटकर गिर गई । वाडिंगटन का दास्ता आगे था । गोली उसे दस्ते की थी । किसान लड़-लड़कर गिर रहे थे। थोड़े ही बचे थे । परंतु मैदान नहीं छोड़ रहे थे । अवंतीबाई का युद्ध पराक्रम देखते जाते थे ।

रानी ने उमरावसिंह की ओर दाहिना हाथ बढ़ाकर तलवार मांगी । उसके आँसू आ गए । तलवार दे दी । रानी ने तुरंत तलवार पेट में भोंक ली ।" [86]

रानी अवंतिबाई का उल्लेख इतिहास की पुस्तकों में भी मिलता है - ''सुप्रसिद्ध इतिहासकार सुन्दरलाल ने रानी अवंतीबाई के आलोसर्ग की अतिशय प्रशंसा करते हुए लिखा है - "रानी अवंतीबाई का व्यक्तिगत जीवन जितना पवित्र और निष्कलंक था, उनकी मृत्यु भी उतनी ही वीरोचित थी । मुठ्ठी भर देशभक्त सैनिकों के साथ जिस प्रकार वह अलौकिक वीरता और असाधारण युद्ध कौशल को प्रदर्शित करते हुए वीरगति को प्राप्त हुई, विशेष उल्लेखनीय है । रानी अवंतीबाई ने अपनी मृत्यु के आखिरी क्षणों में कहा था। ''मैंने स्वयं ही जनता को क्रांति के लिए प्रेरित किया था ।'' वास्तव में रानी अवंतीबाई भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की वीरांगनाओं में अग्रगण्य है । उसने बड़े शौर्य और साहस के साथ क्रांति का शंखनाद किया था । सीमित साधनों के रहते हुए भी उसने ब्रिटिश शासन को चुनौती दी तथा ब्रिटिश साम्राज्य को हिलाकर रखने में कामयाब रही । उसका त्याग और बलिदान अविस्मरणीय रहेगा ।''[87]

मुसाहिबजू

प्रस्तुत उपन्यास की आर्थिक पृष्ठभूमि 'रानी लक्ष्मीबाई' उपन्यास जैसी ही है । मुख्य व्यवसाय खेती ही बना रहा था । अंग्रेजों के आ जाने से शासन में युद्ध आदि कम हो गए थे । लगान वसूली करने के लिए अंग्रेजों ठेकेदारों की नियुक्ति की और बाद में इन्हें जमींदार बना दिया गया । इस प्रकार किसानों की भूमि जमींदारों के हाथ में आ गई थी । जमींदार किसानों से मनमाना लगान वसूल कर लगे थे । किसानों की स्थिति

अत्यंत दयनीय हो गई थी । अंग्रेजों के औद्योगिक नीति के कारण भारतीय उद्योग धन्धे चौपट हो गए थे । व्यापारी का महत्व बढ़ गया था । व्यापारी धनी होते जा रहे थे । चौर लूटेरों की संख्या बढ़ती जा रही थी । ऐसी स्थिति में भी दिलपसिंह जैसे सामंत अपनी सामंतीय परंपरा का निर्वाह कर रहे थे । वे अपने सैनिकों से उनकी सूख सुविधा के लिए कहते है - "मेरा जीवन मेरे सैनिकों से ही सार्थक है । उनकी पत्नी चरखाबाई पति की प्रतिष्ठा में अपने किमती गहनों को एक-एक कर गिरवी रख कर मुसाहिबजू की मदद करती है । उदाहरण देखिए -

"मुसाहिबजू पत्नी के आभूषण कुंजी के यहाँ गिरवी रख चुका था । गिरवी रखने के बाद फिर आभूषण कभी नहीं छुड़ाए जा सके । ब्याज इतना बढ़ा कि कुछ भी न दिया जा सका । मुसाहिबजू को भी मालूम था । वे आशा करते थे कि किसी अदृश्य अचानक साधन द्वारा कभी इतना धन आ जाएगा कि सब आभूषण कदाचित एक दिन में छुडा लिये जाएगें ।"[88]

यह लघु उपन्यास होने के कारण इसमें आर्थिक पृष्ठभूमि का व्यापक चित्रण देखने को नहीं मिलता ।

4.4 उपन्यासों की धार्मिक पृष्ठभूमि

भुवनविक्रम

इस काल में आर्यो के धार्मिक जीवन के क्षेत्र में कुछ परिवर्तन आ गये थे । पूर्व वैदिक काल में जिन देवताओं को अत्यधिक महत्व दिया जाता था, उत्तर वैदिक काल में उनका महत्व कुछ कम हो गया था और जिनका पूर्व महत्व कम था, उन्हें अत्यधिक सम्मान दिया जाने लगा था । इन्द्र, सूर्य, वरूण और पृथ्वी जो पूर्व वैदिक काल के प्रमुख देवता थे, उनका स्थान उत्तर वैदिक काल में रूद्र (शिव), विष्णु, प्रजापति (ब्रह्मा) ने ले लिया था । रूद्र को शिव और महादेव विष्णु को सभी देवताओं में श्रेष्ठ समझा जाता था और उन्हें वासुदेव के नाम से संबंधित किया जाता था । इसका उल्लेख उत्तर वैदिक कालीन ग्रन्थों में मिलता है -

"एतमे के वदन्त्यग्नि मुनमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेकेडपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।1।।"[89]

भावार्थ : इस परमेश्वर को कोई अग्नि, कोई मनु और प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई नित्य ब्रह्म कहते हैं

उत्तर वैदिक कालीन धर्म पूर्व वैदिक युग के धर्म की तुलना में अधिक जटिल हो गया था । इस युग में यज्ञों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी । यज्ञों की इतना पेचीदा और खर्चीला बना दिया गया था कि वे साधारण जनता की आर्थिक स्थिति से बहार थे । यज्ञ ही सब कुछ और महत्वपूर्ण हो गये थे । वास्तव में इस युग में यज्ञ ने ऐसा गौरव प्राप्त कर लिया और उनकी महता इतनी अधिक बढ़ती गयी थी कि वे फल के साधन नहीं, स्वयं इच्छित परिणाम बन गये थे । यहाँ तक विश्वास दृढ़ हो गया था कि यज्ञ करने वाला इस जीवन एवं मृत्यु से मुक्त हो जाता है और वह अत्यन्त सुख प्राप्त करता है । इस काल के ग्रंथों का अध्ययन करने पर यज्ञों के महत्व का ज्ञान होता है । यजुर्वेद में इसका उल्लेख आया है -

"प्रसव इत्यस्थ प्रजापतिर्ऋषिः ।
वस्वादयो देवताः । कृतिश्छन्दः ।
निषाद स्वरः ।।"[90]

भावार्थ : मनुष्यों को चाहिये कि प्राण आदि की शुद्धि के लिये आग में पुष्टि करने वाले आदि पदार्थ का होम करे ।

पूर्व वैदिक कालीन यज्ञ सरल एवं साधारण होते थे । परंतु उत्तर वैदिक काल में न केवल सोमयज्ञ जैसे एक दिन में ही समाप्त हो जाने वाले संक्षिप्त यज्ञ होते थे अपितु विशाल यज्ञ जैसे - राजसूय, अश्वमेघ या वाजपेय यज्ञ किये जाते थे, जिनकी समाप्ति में महीनों या वर्षो लग जाते थे । यज्ञ में घी, दूध आदि अनेक चीजें चढ़ाई जाती थीं । इस विषय में रतिभानु सिंह लिखते है - "अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थनायें करते थे । दृध, धृत, सोम रस तथा अन्य खाद्यान्त चढ़ाते थे ।"[91] सभी देवी-देवताओं के नाम की आहुति दी जाती थी ।

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते

स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहा विभुवे स्वाहा -

धिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सँ सर्पाय स्वाहा

चन्द्राय स्वाहा ज्योतिषे स्वाहा मलिमयुचाय स्वाहा

दिया पतये स्वाहा ।।30।।[92]

इस संबंध में लूमिया लिखते हैं - "यज्ञ में बलि का महत्व भी अधिक बढ़ गया था । इस युग में फल, अन्न, दूध, घी आदि की बलि के अतिरिक्त पशु बलि भी प्रचलित हो गयी थी ।"[93]

शतपथ ब्राह्मण में भी बलि प्रथा का उल्लेख मिलता है । उदाहरण देखिए -

"स ऐज्ञत नाना वाडइदं देवताभ्य आलिप्सेडग्रेर्वकृढ

त्रूपाणि कामये क तेनानाग्रिभ्यः काभापालभाडइति

तानग्रिभ्यः कामायालभत तद्यदग्रिभ्य इति बकृति

क्रयग्रित्रूपाएयभ्यध्यायदथ यत्कामथिति कमिन

क्यालभत तानाप्रीतान्यर्यग्रि कुतानुदाचो नीवा

समज्ञपयत् ।।6।।"[94]

अर्थात् : उसने सोचा कि नाना देवताओं के लिए मैं इनका आलभन करना चाहता हूँ । मैं अग्नि के लिए इनका आलभन करूँ जिससे अपनी कामना भी पूरी हो । उनका अग्नियों की कामना के लिए आलभन किया । 'अग्नियों' (बहुवचन) इसलिए कहा कि अग्नि के बहुत-से रूप है । 'कामना के लिए' इसलिए कहा कि उसने कामना के लिए आलभन किया । उसने उनको सन्तुष्ट (आप्रीत) करके अग्नि की परिक्रमा कराके उत्तर की ओर ले-जाकर उनका समज्ञापन (बलिदान) कर दिया ।

उपन्यास में भी यज्ञ में फल, अन्न, घी आदि के अतिरिक्त 'बलि' का भी उल्लेख आया है । जिससे उस समय की धार्मिक पृष्ठभूमि के 'बलि' तथा यज्ञ की पुष्टि उपन्यास को पढ़कर हो जाती है । उदाहरण देखिए - जब उपन्यास में यज्ञ की चर्चा होती है -

"तुम थोड़े से कुछ अन्न पा गए तो क्या हुआ ? सारे जनपद में हाहाकार मच रहा है । राजा ने यज्ञों में पशुओं का बलिदान बंद करके देवताओं को रूष्ट कर दिया है । अग्नि के मुँह में अन्न और घी झोंकने से देवता संतुष्ट नहीं हुए न होंगे !"[95]

उपन्यास में घोड़ा, बैल, गाय, बकरा आदि जानवरों की बलि देवताओं के समक्ष अर्पित करने की बात आई है ।

अंध विश्वास और धार्मिक विचार के संबंध देखा जाए तो इस काल के लोगों में अंधविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई थी । लोग जादू-टोना, तंत्र-मंत्र, तावीज और प्रेत आत्माओं में विश्वास करते थे । वे तंत्र-मंत्रों को रोगों के निदान और देवताओं को वश में करने का साधन मानते थे । यजुर्वेद में मंत्रों का उल्लेख आया है । एक उदाहरण देखिए -

"मधवे स्वाहेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः ।
मासा देवताः । भुः रिगत्यष्टिश्छन्दः ।
गाद्यारः स्वर ।।"[96]

अर्थात् : जो मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्र आदि यज्ञ और अपनी प्रकृति के योग्य आहार और विहार आदि को करते हैं वे निरोग होकर बहुत जीने वाले होते हैं ।

फिर उसी विषय को अगले मंत्र में कहा है -

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुकाय स्वाहा
शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्पाय स्वाहेषाय
स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा
तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहा छं, हसस्पतये स्वाहा ।।31।।[97]

कुछ ऐसे मंत्र भी थे जिनके विषय में यह विश्वास था कि उनका प्रभाव जादू जैसा है । शत्रु पर विजय पाना, रोग से छुटकारा पाना, मूल्यवान वस्तु की प्राप्ति, नक्षत्रों के बुरे प्रभाव से छुटकारा आदि यह सब जादू-टोने के प्रभाव से किए जा सकते थे । और यही कारण है कि उपन्यास में "भुवन की मां उसको अभिमन्त्रित करके, एक कुर्ता देती है, जिसके पहनने से सब प्रकार की व्याधि, संकट, भूत-प्रेत, शत्रु आदि की बाधाएँ दूर रहें।"[98]

उस काल में बहुत से व्यक्ति उपासना तथा समाधि के द्वारा अपने आदर्शों को प्राप्त करने में विश्वास रखते थे । ईश्वर को सगुण तथा निर्गुण मान कर उसकी प्रार्थना बहुत लोग किया करते थे । उनका विश्वास था कि उपासना द्वारा संसार के सब बंधन दूर हो जाते हैं और व्यक्ति का चित्त एकाग्र होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है । "कई उपनिषदों में ईश्वर के नाम के जाप पर बल दिया गया है । मन्त्रों का जाप करने से भी ईश्वर की कृपा होती है । समाधि की अवस्था में व्यक्ति अपने आप को बाहरी संसार से खींच कर मन को वश में करता है । उससे इन्द्रियाँ, बुद्धि आदि आत्मा की ओर अग्रसर होते है और धीरे-धीरे आत्मा के प्रकाश का अनुभव होता है ।"[99]

उपन्यास में भी धोम्य ऋषि के तीन शिष्य आरुणि, वेद तथा कल्पक ईश्वरर की उपासना करते है । इससे उस समय की धार्मिक पृष्ठभूमि का पता चलता है ।

देवगढ़ की मुस्कान

इस समय लोगों के धार्मिक जीवन के क्षेत्र में कुछ परिवर्तन आ गये थे । 11 शताब्दी में भिन्न-भिन्न धर्मों में सनातन तथा जैन धर्म मुख्य थे । सनातन धर्मी विष्णु, महादेव तथा दुर्गा, भैरवजी की पूजा करते थे । मन्दिर जाते थे, भजन गाये जाते थे । दुर्गाष्टमी नवरात्री पर विशेष पूजा होती थी । राजाओं द्वारा मन्दिर की स्थापना करवाई जाती थी । कुछ मन्दिरों की स्थापना पहले से ही हो चुकी थी । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है - "विजयपालदेव के लगभग दो सौ-ढाई सौ वर्ष पहले मंदिर बना था । मनियादेवी चंदेलों की इष्ट देवी थी । विजयपाल के समय तक महोबा नगर में ही विष्णु, महादेव, दुर्गादेवी के मन्दिर बन चुके थे । जैनियों के भी मन्दिर नगर में थे ।"[100]

जैनी महावीर को मानते थे । उस समय जैन धर्म की स्थापना हो चुकी थी । डॉ. डी.सी. मिश्रा इस संबंध में लिखते है -

"जैन-धर्म की स्थापना जन साधारण के कल्याण और हिन्दू धर्म की कुरीतियों को हटाने के उद्देश्य से हुई । महात्मा महावीर ने प्राचीन हिन्दू धर्म की बहुत सी बातें लेकर और अपने अनुभव व ज्ञान के आधार पर एक नए धर्म की स्थापना की ।"[101]

हिन्दूओं के अपेक्षा जैनियों में धार्मिक सहिष्णुता अधिक थी । मन्दिरों में 'शास्त्रार्थ' चलते थे । प्रस्तुत उपन्यास में जैन मुनि रत्नगिरि की उद्दभावना इसी कारण की गई है जो मन्दिरों में शास्त्रार्थ चलाया करते थे जिसकी पुष्टि उपन्यास का उदाहरण देखकर हो जाती है । जब विजयपाल देव शास्त्रार्थ सुनने जैन मन्दिर में प्रवेश करते है -

"विजयपालदेव तब तक के शास्त्रार्थ का सार और अंत के महत्वपूर्ण विषय की जानकारी चाहते थे । उन्हें मालूम था कि मुनि रत्नगिरि योगाभ्यासी है - आयु लगभग पचास की सुनी थी, परंतु लगते थे जैसे तीस के तरूण हो !"[102]

इसके अतिरिक्त मुस्लाम धर्म का प्रचार भी बढ़ रहा था । हर कोई मुस्लिम शासक अपने मजहब को बढ़ाने में लगा रहता था ।

प्रस्तुत काल में जाति को लेकर भी परिस्थिति काफी बीगड़ी हुई थी । हिन्दू लोग शुद्रों को मन्दिर में प्रवेश करने नहि देते थे । ब्राह्मण भी इसके विरूद्ध थे । ब्राह्मण विजातीय स्त्री-पुरूष के विवाह संस्कार के लिए राजा की भी आज्ञा मानने के लिए तैयार नहीं थे । धर्म के नाम पर ब्राह्मण मरमिटने के लिए भी तैयार थे । उपन्यास में लेखक ने स विषय का भी उल्लेख किया है । जब राजा विजयपाल देव सरिखों तथा शुद्रों को मन्दिर में प्रवेश देने की बात ब्राह्मणों से करते है तब ब्राह्मण कहते है -

"'श्री महाराज, हमें चाहे मरवा डालें, परंतु हम अपना धर्म नहीं छोड सकते कुजात को सुजात नहीं बना सकते ।'

'जाओ, हटो, जो अच्छा लगे, करो । परंतु जानते हो कि राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने पर क्या होता है ?'

'हम तो श्री महाराज से पहले ही निवेदन कर चुके है कि धर्म के लिए अपने प्राण देने को तैयार है ?'"[103]

प्रस्तुत काल में जैनों द्वारा अहिंसा का उपदेश दिया जाता था । अहिंसा जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त का लोग बड़ी सख्ती से पालन किया जाता था । जैन संतों द्वारा उपदेश दिये जाते थे । इस संबंध में डॉ. दिनेशचन्द्र मिश्र लिखते है -

"उस समय धर्म जैन धर्म ने अहिंसा को सभी सम्प्रदायों में अधिक महत्व दिया । किसी भी प्रकार की अहिंसा करना या हिंसा को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में प्रोत्साहन देना, जैन धर्म में निषेध है । जैन-धर्म का अहिंसा का सिद्धान्त मात्र शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है वरन् वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य मानता है । यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद है । अहिंसा की चरम सिद्धि इसी अनेकान्तवाद में हुई है।"[104]

प्रस्तुत उपन्यास में भी अहिंसा का उल्लेख हमें मिल जाता है । उपन्यास में एक जगह मुनि रत्नगिरि राजा विजयपाल देव से बंदिओं को अंगभंग कर देने के दंड को त्यागने के लिए कहते है और उन्हें अहिंसा का उपदेश समजाते है । जिसकी पुष्टि उपन्यास पढ़कर हो जाती है । देखिए उदाहरण -

"मुनि ने तुरंत कहा, 'आप राजा है, शासन के लिए दंड विधान आवश्यक है । साथ ही यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि न्याय से उच्चतर और बढ़कर दया है आपने उस सामंत अपराधी के दाएँ अँगूठे को काट डालने का आदेश दिया है ?'

'दंड बहुत ही कठोर है, बंदी बनाए रखना ही पर्याप्त होगा ।'"[105]

गठकुंडार

प्रस्तुत उपन्यास 13वीं शताब्दी से संबंधित है । इस काल में सभी धर्म की महत्ता को स्वीकार करते थे । मूर्तिपूजा प्रचलित थी । महादेव, दुर्गाजी, भैरव, हनुमानजी, लकडादेव आदि देवी-देवताओं की पूजा होती थी । उपन्यास में भी वर्मा जी ने तत्कालीन काल में पूजे जाने वाले अनेक देवी देवता जैसे दुर्गादेवी, महादेव जी, हनुमान जी आदि का उल्लेख किया है । जिसकी पुष्टि उपन्यास पढ़कर हो जाती है । उदाहरण देखें एक जगह वर्मा जी ने महादेव की मूर्ति का उल्लेख किया है -

"कुछ मंदिर बस्ती में थे और एक विशाल मंदिर बस्ती से कुछ बाहर था, जिसमें महादेव की मूर्ति चंदेलों के समय से पूजी जाती थी ।"[106]

देवी-देवताओं के लोकप्रियता के प्रमाण हमें ऐतिहासिक पुस्तकों भी मिलते है । नर्मदा प्रसाद गुप्त इस विषय में लिखते है -

"तत्कालीन देवों में मनियाँदेव, चण्डिका देवी, भैरवबाबा मैहर की शारदा देवी आदि प्रमुख रहे है । गोदों में कारसदेव को शंकर का अवतार माना गया है, जिनसे महादेव की महत्ता सिद्ध होती है । इन सबसे स्पष्ट है कि इस युग में महादेव शिव ही थे और उनका भैरव एवं चण्डिका आदि का संहारकारी रूप ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप होने के कारण अधिक लोकप्रिय हुआ ।"[107]

प्रस्तुत काल में सभी लोग यानी प्रजा से लेकर राजा तक तंत्र-मंत्र, जादु-टोना, भूतप्रेत में विश्वास रखते थे । लोग अन्धविश्वासी थे । उनको धर्म के ठेकेदारों की आज्ञा अनुसार चलना पड़ता था । इसी कारण उपन्यास में राजा विष्णुदत्त की पुत्री तारा योग्य वर प्राप्ति के लिए तंत्रशास्त्री के बताए अनुसार कठोर वृत्त का पालन करती है । देखिए उदाहरण -

"लड़की को तीन महीने का एक कठोर व्रत रखना पड़ेगा । माघ की अमावस्या से वैसाख की अमावस्या तक शक्ति भैरव के मंदिर में तारा को जल ढालने और लाल कनेर के फूल चढ़ाने के लिए नित्य जाना पड़ेगा । फूल बड़े-से बड़ा हो, व्रत की समाप्ति पर योग्य वर अवश्य प्रकट होगा ।"[10८]

और उसके अनुष्ठान के लिए देवरा से कभी अग्निदत्त को, कभी दिवाकर को प्रतिदिन कनेर के फूल तोड़ कर लाने पड़ते थे । प्रस्तुत काल के विषय में नर्मदा प्रसाद गुप्त लिखते है -

"नये धार्मिक ग्रंथों ने धार्मिक लोकचार का फैलाव किया और उनमें कट्टरता लादी। संस्कार और कर्मकांड बहुत बढ़ गये । पौराणिक देवताओं से संबंध रखनेवाले व्रतों-उपवासों और नैमित्तिक संस्कारों एवं क्रियाओं की संख्या इतनी अधिक हो गई कि आदमी आदमी की दिनचर्या उन्हीं में लगकर धर्मोन्मुख बन गयी ।"[109]

मृगनयनी

प्रस्तुत उपन्यास 1486 से 1516 ई. शताब्दी से संबंधित है । इस शताब्दी में भिन्न प्रकार के जाति धर्म वाले भिन्न-भिन्न देवी देवताओं को पूजते थे । मुसलमान नवाज पढ़ते थे, रोजा रखते थे तथा वे मस्जिद जाते थे । हिन्दू शिव, दुर्गा, विष्णु, सूर्य,

भैरव आदि को पूजते थे । वे सुबह-शाम मन्दिर जाते थे, पूजा, आरती, धार्मिक गीत, भजन गाते थे । इस काल में वैष्णव तथा जैन धर्म भी प्रचलित था ।

इसके अतिरिक्त हिन्दू राजा द्वारा मन्दिरों का निर्माण करवाया जाता था तथा मुस्लिम सुल्तानों द्वारा मस्जिदों का । कुछ ऐसे भी मुस्लिम सुल्तान होते थे जो देवी-देवताओं की मूर्ति तथा मन्दिरों को तोडते थे और उस जगह पर मस्जिदें बनवाते थे । उस समय दिल्ली का शासक सुल्तान सिकन्दर था । जो अत्यन्त कट्टर मुसलमान था जिसमें नाम मात्र को भी धार्मिक सहिष्णुता नहीं थी । वो युद्ध में विजय प्राप्ति के बाद अपने विजय-अभिमान में हिन्दूओं के अनेक मन्दिरों, मूर्तिओं और धार्मिक स्थानों को नष्ट कर अपनी धर्मान्धता की क्षुधा शान्त करता । श्रीवास्तव जी इस संबंध में लिखते है -

"उसने हिन्दूओं को थानेस्वर के पवित्र तड़ाग में स्थान करने से रोकना चाहा, और सुल्तान होने पर मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट करने तथा उनके स्थान पर मस्जिदें खड़ी करने की नीति का अनुसरण किया । उसने नगरकोट के ज्वालामुखी मन्दिर की पवित्र मूर्ति को तोड़ डाला और उसके टुकड़े-टुकड़े कसाइयों को दे दिये जिससे वे उनका उपयोग मास तोलने के बाटों के रूप में कर सके । उसने मथुरा, मन्देल, नरवर, चन्देरी आदि स्थानों में मन्दिरों का विध्वंश किया ।"[110]

मन्दिरों-मूर्तियों के विनाश का उल्लेख वर्मा जी ने उपन्यास में भी किया है जिसकी पुष्टि हो जाती है । "सिकन्दर ने नरवर में छः महीने रहकर मन्दिरों और मूर्तियों को ऐसा चकनाचूर किया कि कोई कह नहीं सकता था कि नरवर में कभी कोई मन्दिर या मूर्ति थी ।"[111]

धर्म परिवर्तन को लेकर इस शताब्दी में धार्मिक स्थिति बड़ी दयनीय हो चुकी थी। शूद्रों को इतना नीचे गिरा दिया था कि उनका मन्दिरों में जाना वर्जित हो गया था और उनको सवर्ण छूते तक न थे । धर्म के नाम पर ब्राह्मणों के ही अनेक सम्प्रदाय थे कुएँ की शुद्धिकरण के लिए आए वैष्णव और राजा मानसिंह के पुरोहित विजय जंगम का झगड़ा धार्मिक कट्टरता का परिचायक है । इसी कट्टरपंथी बोधन पुजारी ने राजा के

कहने पर भी अटल तथा लाखी का विवाह नहीं करवाया क्योंकि वो निम्न जाति के थे । उस समय अंतरजातीय विवाह निषेध था । और उसने कहा -

"महाराज ने वर्ण-व्यवस्था के विरूद्ध ठान ली है इसलिये मैं अब ग्वालियर में नहीं ठहरूँगा । अधर्म के समय और इस स्थान में नहीं रहूँगा ।"[112]

इसके अतिरिक्त मुसलमान हिन्दूओं को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य करते थे । मौलवी मुस्लिम धर्म के ठेकेदार थे । वे सुल्तानों को हिन्दूओं के विरूद्ध भड़काया करते थे। सुल्तानों को इनकी बात माननी पड़ती थी । जो हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेते थे, उन्हें सुल्तान शान्ति से रहने देते थे और जो हिन्दू इस्लाम धर्म परिवर्तन नहीं करते और उसका विरोध करते तो वे उनका वध करवा देते थे । उस समय सुल्तान सिकन्दर की यही नीति थी वह कट्टरवादी मुसलमान था उसने कई हिन्दूओं को मुसलमान बनाया। इस विषय में रविभानु नागरसिंह लिखते है -

"फिरोज तुगलक तथा औरंगजेब की भाति ही सिकन्दर लोदी भी धार्मिक कट्टरता का शिकार था । हिन्दूओं से उसको घृणा थी । उसने अनेक स्थानों पर हिन्दूओं के देवालयों को ध्वस्त कर अनेक भग्नावशेषों पर इस्लाम की प्रतिष्ठा की थी और मस्जिदों का निर्माण करवाया था कितने ही हिन्दूओं का बलात मुसलमान बनने पर बाध्य किया गया और हिन्दूओं के धर्म परिवर्तन से इन्कार करने पर कितनों को प्राणों से हाथ धोना पड़ा ।"[113]

श्री वास्तव जी लिखते है -

"बोधन नामक एक हिन्दू को उसने यह कहने के अपराध में मृत्यु-दंड दिया कि हिन्दू धर्म उतना ही सच्चा है जितना इस्लाम ।"[114]

उपन्यास में भी सिकन्दर की धार्मिक असहिष्णुता का और बोधन ब्राह्मण के मृत्युदंड का उल्लेख आया है, जिससे उस समय की धार्मिक दशा की पुष्टि हो जाती है । उदाहरण देखिए -

"एक मौलवी बोला, 'चले कैसे जाओगे बिरहमन ? हार मान जाओ और इस्लाम को कबूल करो, तब यहाँ से जा सकोगे ।'

'मेरा धर्म किसी धर्म से कम है जो मैं अपने को छोड़कर दूसरे का पल्ला पकड़ूँ ? बोधन ने निर्भयता के साथ कहा...

'यह कुफ्र है ! यह कुफ्र है !! मौलवी' मौलवी चीख पड़े ।

बहस बन्ध हो गई । सुल्तान ने मौलवियों को आदेश दिया 'इसकी तकदीर का फैसला आप लोगों के सुपुर्द किया जाता है । तै करिये ।'

बोधन जल्लादों को सौंप दिया गया । तलवार उसकी गर्दन पर चली और वह अपने वाञ्छित लोल में पहुँच गया ।''[115]

''इतिहासकारों का मत है कि सिकन्दर की इस धार्मिक कट्टरता को आधुनिक मापदण्डों की तुलना नहीं तोला जा सकता है क्योंकि यह युग ही धार्मिक असहिष्णुता का था और योरप तक में धार्मिक असहिष्णुता का बोलबाला था ।''[116]

प्राचीन काल के समान इस शताब्दी में भी साधारण जनता जादूटोना तंत्रमंत्र पर विश्वास रखती थी । कुछ गरीब जनताएँ पुनर्जन्म तथा भाग्य पर भरोसा रखती थी । कुछ ढोंगी पाखंड़ी ऐसे भी थे जो गरीब जनता का भाग्य पढ़कर उनको उठाते थे । लोग अपनी बीमारी तथा रोगों को ठीक करने के लिए जडी-बूटियां तथा मंत्रों का सहारा लेते थे। इसके अतिरिक्त अशुद्ध चीजों को शुद्ध करने के लिए मंत्रों का उच्चारण किया जाता था । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है जब सिकन्दर लोदी ने ग्वालियर पर अनेकों बार आक्रमण किये और मुर्दा लाशों को कुएँ में फिकवाया जिससे कुओं का पानी अशुद्ध हो गया । पानी पीनेलायक ना होने के कारण गाँववालें उसको मंत्रों द्वारा शुद्ध करवाते है। उदाहरण देखिए -

''राजा मानसिंह ने पुनर्वास के लिये आई हुई जनता को किले के भीतर अस्थायी निवास दे दिया और कुओं के स्वच्छ करने का काम तेजी के साथ आरम्भ कर दिया । कुछ कुओं को साफ कर दिया गया और तली तक कई बार उनका पानी निकाल दिया गया । फिर गंगाजल की बूंदों और मंत्रों के उच्चार से उनका पानी पीने योग्य बना लिया।''[117]

दुर्गावती

16वीं शताब्दी में भिन्न जातियों के लोग भिन्न-भिन्न धर्म के अनुयायी थे । मुस्लिम मस्जिदों में जाकर पाँच बार नमाज पढ़ते थे । रोजा रखते थे, जबकि हिन्दू अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे । वे सुबह-शाम मंदिरों में जाते थे, भजन-कीर्तन करते थे । उस समय दुर्गापूजा, भैरवपूजा, शिवपूजा आदि देवी-देवताओं की मूर्तिपूजा प्रचलित थी । अनेक स्थलों पर देवी-देवता के मंदिर भी स्थापित थे । उपन्स में भी वर्मा जी ने मूर्तिपूजा का वर्णन किया है देखिए उदाहरण -

"दलपति ने कहा - 'दुर्गाजी की मूर्ति भी, सुना है, बड़ी ही सुहावनी है - अद्दभुत है। दर्शन करना चाहता हूँ ।'

'हाँ, हाँ, चलिए, अवश्य चलिए । मंदिर उस दिशा में है ।' कीर्तिसिंह ने हाथ का संकेत किया ।

मार्ग में पूजन के लिए आते-जाते नर-नारी मिले । नारियाँ थालों में फूल और दीप सजाए थीं ।"[118]

मूर्तिपूजा के अतिरिक्त बलिप्रथा भी प्रचलित थी । मनचाही इच्छापूर्ति होने पर देवी-देवताओं पर पशुबलि चढाई जाती थी । उपन्यास में भी बलिप्रथा का उल्लेख आया है। गरीब जनता अतिवृष्टि या ओले पड़ने के कारण खेती को ज्यादा नुकसान ना हो इसलिए मिन्नते मानते है और बलि चढाते है, देखिए परिच्छेद नंबर 15 में वर्माजी ने लिखा है -

"अनेक स्थानों पर ओले पड़े थे, कहीं-कहीं तो छटाँक-छटाँक आध पाव तक के । त्राहि-त्राहि मच गई । मिन्नतें मनाई गई, बोलमाएँ (बलि) बोली गई,..."[119]

प्रस्तुत काल में भी बलिप्रथा थी । इसका उल्लेख एतिहासिक पुस्तक में मिलता है, जो अकबर द्वारा बन्द करवा दी गई थी । जिसकी पुष्टि पुस्तक पढकर हो जाती है -

"इस समय पशुओं के बलिदान की प्रथा थी । इन मूक और निरीह प्राणियों की बलि देवी देवताओं को प्रसन्न करने के लिए की जाती थी । सम्राट ने इसे भी बंद करा दिया ।"[120]

प्रस्तुत उपन्यास में मुगल काल में अकबर का शरूआती शासन काल बताया गया है । अकबर के पूर्व हिन्दू-मुस्लिमों में जाति-धर्म को लेकर अनेक असमानताएँ थी । मुस्लिम सुल्तान हिन्दूओं से 'तीर्थयात्रा कर' वसुल करते थे । यह कर सभी धार्मिक तीर्थस्थानों पर लगाया गया था । जिसे अकबर ने बंद करवा दिया था । इसका उल्लेख एतिहासिक पुस्तकों में आया है -

"अकबर ने अनुभव किया कि हिन्दूओं की आराधना करने के ढंग पर उनसे धन माँगना या उनकी आराधना में रूकावट डालना उचित नहीं है । यह कर पूर्ववर्ती सुल्तानों के लालच और धर्मान्धता का प्रतीक था । अकबर ने कहा - 'जो लोग अपने सृजनकर्ता ईश्वर की पूजा के लिए तीर्थस्थानों पर एकत्र होते है, उनसे कर वसूल करना ईश्वर की इच्छा के सर्वथा विरूद्ध है, चाहे उनकी पूजा की विधि पृथक ही क्यों न हो ।' फलस्वरूप अकबर ने अपने संपूर्ण साम्राज्य में 'तीर्थयात्रा कर' वसूल न करने के आदेश प्रसारित कर दिये ।"[121]

जाति धर्म के नाम पर हिन्दूओं पर अमानवीय अत्याचार किया जाता था । मुस्लिम सुल्तान हिन्दुओं को जबरजस्ती मुस्लिम धर्म स्वीकार करवाते थे । और मुस्लिम धर्म न स्वीकार करने पर हिन्दूओं की हत्या करवा दी जाती थी । तथा जिन्हें मृत्यु स्वीकार न हो तो उनसे 'जजिया' कर वसूला किया जाता था । इस विषय में श्री वास्तव जी लिखते है -

"वास्तव में भारत के मध्यकालीन मुसलमान शासक स्वयं को केवल मुसलमानों का शासक मानते थे और शेष दूसरों को जो देश के निवासी थे इसलिए जीवित रहने दिया जाता था । कि वे 'कर देनेवाले' थे और अपनी बहुत अधिक संख्या के कारण समाप्त नहीं किये जा सकते थे ।"[122]

विराटा की पद्मिनी

प्रस्तुत काल में लोगों के धार्मिक जीवन के क्षेत्र में कुछ परिवर्तन आ गये थे । इस काल में भिन्न धर्मों के लोग भिन्न-भिन्न देवी देवता जैसे लक्ष्मी, दुर्गा, शंकर आदि को पूजते थे । मूर्तिपूजा भी होती थी परंतु कुछ ऐसे लोग भी थे जो मनुष्य को भी देवी

का अवतार मानकर उसकी पूजा अर्चना करते थे । उपन्यास में नरपतिसिंह दाँगी के घर लडकी (कुमुद) उत्पन्न हुई जिसे लोगों ने देवी का अवतार मान लिया था और उसको पूजने दूर-दूर से लोग आते थे - "लोगों के आश्चर्य में ओज न रहा । उस कन्या देवी का अवतार मानते हुए न केवल गाँव के लोग ठठ-के ठठ जमा होकर उसके घर पर या मंदिर में जाते थे बल्कि बाहर के दूर-दूर के लोग भी अब मानता मान-मानकर आते थे ।"[123]

इतिहास में पद्मिनी संबंधी घटना का उल्लेख मिलता है -

"विराटा में दाँगी जाति की पद्मिनी थी । नवाब कालवी के हमले की वजह से उसे बेतवा नदी में समाधी लेनी पड़ी ।"[124]

इसके अतिरिक्त लोग धार्मिक स्थलों पर तीर्थो पर नदियों में स्नान करने जाते थे। उनमें ऐसी आस्था की कि नदी में स्नान करने से उनके रोग, कष्ट, पाप दूर हो जाएँगे । उपन्यास में नायकसिंह राजा अपने रोगों को दूर करने के लिए 'पहूज' नामक नदी में स्नान करने जाते है का उल्लेख आया है । उदाहरण देखिए -

"मकरसंक्रांति के स्नान के लिए दलीपनगरी राजा नायकसिंह पहूज में स्नान करने के लिए विक्रमपुर आए । दूसरे दिन दोपहर के समय स्नान का मुर्हूत था ।..."[125]

"पहूज नदी झांसी के पास सिमरदार तालाब से निकलती है और दतिया जिले में बहती हुई हमीरपुर के आगे यमुना में मिलती है । इस नदी के किनारे उनाव में वालाजी का मंदिर प्रसिद्ध है । यहाँ पवित्र कुण्ड में लोग स्नान करते है तथा कृष्ट रोगियों की भीड लगी रहती है ।"[126]

प्रस्तुत काल में भी लोग जादू-टोना में विश्वास रखते थे । लोग भाग्यवादी थे इसलिए अपनी दयनीय दशा का दोष राजा तथा नवाबों के अत्याचार को न समझकर भाग्य का लेखमात्र समझते थे । अपनी थोडी सी भूमि और संपति की रक्षा के फिक्र में वे देवालयों में जाते थे और भजन किर्तन करते थे ।

अन्धश्रद्धा इतनी फैल चुकी थी कि लोग साधारण सी स्त्री को भी माँ दुर्गा का अवतार समझते थे और दूर-दूर से उसकी पूजा अर्चना तथा दर्शन के लिए आते थे । वर्मा जी ने उपन्यास में इसका विरोध किया है । वे कुमुद पात्र से कहलवाते है -

कुजरसिंह उसका पैर छूता है तो वह अपने पैर को पीछे हटाते हुए कहती है - "आपने यह क्या किया ?... आप ऐसा फिर कभी न करना । मैं कोई देवी का अवतार नहीं हूँ । साधारण स्त्री हूँ ।"[127]

अहिल्याबाई

प्रस्तुत उपन्यास 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से संबंधित है । इस युग में सभी प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान थी । सभी लोग धार्मिक थे । पुजा, पाठ, मंदिर जाना, भजन-किर्तन, व्रत-उपवास, शास्त्रार्थ सुनना आदि धार्मिक कार्य करते थे । स्वयं अहिल्याबाई धार्मिक वृत्ति की थी, वह शिव की बड़ी भक्त थी । रोज सुबह उठती और शिव-पुजा पाठ आराधना करती थी । उनका जीवन सीधा-सादा था तथा सारा राज्य उन्होंने शिव को अर्पित कर रखा था और वह शिव की सेविका बनकर शासन चलाती थी। इस संबंध में पुनम जी लिखती है - "राजज्ञाओं पर हस्ताक्षर करते समय अपना नाम नहीं लिखती थी । नीचे केवल श्री शंकर लिख देती थी । उनके रूपयों पर शंकर का लिंग बिल्व पत्र का चित्र अंकित है और पैसों पर नंदी का ।"[128]

उनकी शिवभक्ति का उल्लेख हमें उपन्यास में भी मिलता है । जिसकी पुष्टि उपन्यास पढ़कर हो जाती है । देखिए उदाहरण - अहिल्याबाई एक स्थान पर कुछ सोच रही है कि "महेश्वर के निकटवर्ती किसी पहाड़ को काट-कोलकर इसी प्रकार की बढ़ियाँ गुफाएँ बनवाऊँगी और उनमें शंकर की मूर्तियों की स्थापना कराऊँगी ।"[129]

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत काल में सभी धर्म के लोगों को अपने-अपने धर्म को मानने की छूट-छाट थी । विभिन्न जातियों के लोग विभिन्न देवी-देवता को मानते थे ।

तत्कालीन काल में लोग जादू-टोना में विश्वास करते थे । सभी लोग अंधविश्वासी थे । बलिप्रथा भी प्रचलित थी । प्रजा शाहुकार, सरदार, सामंत स्वयं अहिल्याबाई भी इस अंधविश्वास और बलिप्रथा से अछूती नहीं थी । इसका उल्लेख उपन्यास में आया है जब उनका विश्वासु पराशर उनसे कहता है कि महावीर पर किसी ने टोना-टोटका किया है । तब अहिल्याबाई कहती है -

"इसी कारण महादेवजी इतने बीमार पड़े । अपने यशवंतराव फणसे पर भी शायद किसी ने कुछ किया हो । वैसे हमारा वेर किसी से भी नहीं । संभव यही है कि कोई रोग

हो गया था । उज्जैन क्षेत्र के सिद्धवट पर जब मुक्ताबाई और उन्होंने नागनारायण को बलि चढ़ाई तब कहीं रोग से पीछा छूटा ।"[130]

इसके अतिरिक्त और भी तत्कालीन अंधविश्वासों और परंपराओं का वर्णन भी उपन्यास में आया है । देखिए उदाहरण - "अहिल्याबाई ओंकारनाथ इत्यादि की तीर्थयात्रा के लिए गई । साथ में सिंदूरी और भारमल थे । अंबादास पूराणिक भी । नीलगढ़ के निकट से नर्मदा पार की । नर्मदा किनारे की खड़ी पहाड़ी को देखा । यह वही स्थान था जहाँ से अपने को पापी समझनेवाले लोग यह समझकर नर्मदा में गिरते थे कि मरते ही सब पाप धुल जाएँगे और सीधे स्वर्ग पहुँच जाएँगे । बात चल पड़ी ।"[131]

उपन्यास में आई इस अंधविश्वास ऐतिहासिक का वर्णन ऐतिहासिक पुस्तक में भी मिलता है । पुष्टि के लिए देखिए -

"नर्मदा के उत्तर किनारे पर इन्दौर से 4 मील दक्षिण मांधाता टापू है । इस का क्षेत्रफल एक वर्गमील से कुछ कम है । ओंकारनाथ का मंदिर टापू के दक्षिण बगल पर नर्मदा के दाहिने ओंकारपुरी में है । ओंकारजी के मंदिर के समीप अविमुक्तेश्वर ज्यालेश्वर आदि के मंदिर है । मंदिरों के नीचे नर्मदा का कोट तीर्थ नामक पक्का घाट है जहाँ स्नान और तीर्थ भेट होती है । टापू के पूर्व किनारे के पास वहाँ के सब मंदिरों में बड़ा और पुराना सिद्धेश्वर महादेव का मंदिर है । इसके आगे नर्मदा के तीर पर खड़ी पहाडी है जिससे कुदकर पूर्व समय में अपनी मुक्ति के लिए अनेक मनुष्य आत्महत्या करते थे । सन् 1824 ई. से ब्रिटिश गवर्नमेन्ट ने यह रीति बन्द कर दी ।"[132]

इसके अतिरिक्त देवी को जीभ काटकर चढ़ाना, खरगोज के चबूतरे, खेबे और फरसे का पूजन, देवताओं के सामने पशुओं की बलि, अंधश्रद्धा उस समय प्रचलित थी ।

अहिल्याबाई मोक्ष-प्राप्ति की उस परंपरा को बंद न कर सकी । कालान्तर में अंग्रेजों ने कहीं 1824 में बंद किया । परंतु अपने दामाद की मृत्यु के बाद और बेटी के सती होने पर उन्होंने गहरा आघात पहुँचा और वह सोचने को बाध्य हो गई ।

"दान-पुण्य, होम-हमन, जप-तप सब व्यर्थ गया ! मेरा पुत्र गया ! दौहित्र, दामाद और पुत्री का अंत हुआ !! मैं अब और क्या देखने के लिए बची हुई हूँ ! कोई आडे न आया ! भजन-पूजन सब असफल !! ये जितने अंधविश्वास है सब व्यापक भय के कारण उत्पन्न हुए है ।"[133]

माधवजी सिंधिया

प्रस्तुत उपन्यास में धार्मिक स्थिति का उल्लेख कम आया है । इस काल में हिन्दू ईश्वर की उपासना करते थे तथा मंदिर में जाते थे । शास्त्रार्थ सुनते थे तो मुस्लिम अल्हा को मानते थे । मस्जिद में जाते थे । रोजा रखते थे । उस काल में भी समाज में सांप्रदायिकता और प्रादेशिकता का रोग कम भीषण न था । जातिगत अभिमान में मराठों के बीच पारस्परिक कलह तो चलता ही रहता था इसके अतिरिक्त मुसलमानों में भी शिया और सुन्नी को लेकर मनमुटाव चलता रहता था । कुछ बादशाह शियों पर जुल्म करते थे उन्हें परेशान करते थे । उपन्यास में इसका उल्लेख आया है । जब सफदर शिहाबुद्दीन को कहता है -

"सफदर ने कहा, 'दिल्ली सल्तनत की कुतुहल की और जिज्ञासामग्न श्रोता बन गए । मुसलमान-मुसलमान ही आपस में लड़ बैठे हैं । जैसे सुन्नी और शिया । कुछ बादशाहों ने शियों पर जुल्म ढाए ।" [134]

शिया-सुन्नी का मनमुटाव औरंगजेब के शासन काल से चला आ रहा था । इसका उल्लेख इतिहास में आया है । पाण्डेजी लिखते है -

"औरंगजेब के शासन काल में यह असहिष्णुता की नीति अपनी-अपनी पराकाष्टा को पहुँच गई । न केवल हिन्दूओं के साथ भाँति-भाँति के अत्याचार किये गये वरन् सूफी तथा शिया मुसलमान भी इन अत्याचारों से बच न सके । औरंगजेब की इस धर्मान्धता तथा धार्मिक असहिष्णुता की नीति का परिणाम अच्छा न हुआ और मुगल साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया ।"[135]

इसके अतिरिक्त 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अफगानी सम्राट अहमदशाह अब्दाली ने हिन्दू नहीं छोड़ । उन पर काफी अत्याचार किये । दिल्ली शासन सत्ता उसके हाथ में आ जाने पर दिल्ली हिन्दू जनता डर के मारे दिल्ली छोड़ कर भागने लगी तथा कुछ हिंदू ने मुसलमानों की वेशभूषा पहन ली क्योंकि वे अब्दाली के अत्याचार से बच सके । परंतु अब्दाली ने यह घोषणा करवाई की वह हिन्दू लोग तिलक छापा लगाकर निकले नहीं तो मार दिये जाये तथा दिल्ली को छोडकर न भागे । यह सुनकर हिन्दू जनता पहले जैसा रहन-सहन करने लगी ताकि उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता मिले । फिर उसने (अब्दली) धोके से लोगों को मारना आरंभ किया । उपन्यास में इस प्रकार वर्मा जी ने वर्णन किया है - "फिर लूटमार, कत्ल और रक्तपात का आरंभ हुआ । तिलक-छापे से हिंदू तुरंत पहचान लिए जाते और समाप्त कर दिए जाते थे । जो स्त्रियाँ कुएँ या नदी में आत्मघात द्वारा

अपनी रक्षा न कर सकीं, उनके साथ बलात्कार किए गए, फिर या तो वे गुलाम बना ली गई या मार दी गई । इसके बाद मुसलमानों के साथ भी वे ही अत्याचार किए गए । दिल्ली लाशों, खून, आग की लपटों और चीत्कारों से भर गई ।''[136]

उस प्रतार अब्दाली ने मुसलमानों तथा हिंदू को नहीं बक्सा । उपन्यास में केवल जात-पात का ही उल्लेख देखने को मिलता है । इससे अधिक कोई धार्मिक वर्णन नहि आया ।

झाँसी की रानी

प्रस्तुत काल में 19वीं शताब्दी से संबंधित है । इस काल में अंग्रेजों ने भारत पर अपना संपूर्ण अधिकार कर लिया था । लोग विभिन्न देवी देवता और विभिन्न धर्म को मानते थे । उन्हें कोई रोक-टोक नहीं थी । परंतु अंग्रेजों के आने के बाद भारतीय जन साधारणों की धार्मिक क्रियाकलापों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था जिससे भारतीय जनता में असंतोष बढ़ता जा रहा था । अंग्रेज लोगों इसाई बनाने में लगे हुए थे । इस संबंध में डॉ. एस.एल. नागोरी जी लिखते है -

''ईसाई मिशनरियाँ भारत में गरीब हिन्दू मुसलमानों को ईसाई बनाने में लगी हुई थी और सेना में भी सैनिक अफसरों द्वारा ऐसा ही किया जा रहा था । यदि कोई हिन्दू या मुसलमान ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेता था, तो उसे ब्रिटिश सरकार द्वारा काफि सुविधाएँ प्रदान की जाती थी ।''[137]

इसका उल्लेख उपन्यास में भी है । देखिए, उदाहरण जब मोतीबाई तात्यातोपे को समाचार देती है -

''मोतीबाई - 'फ़ौज के सिपाहियों को जबरदस्ती ईसाई बनाये जाने की कोशिश की जा रही है । रामचन्द्रजी और मुहम्मद साहब, दोनों को खुलेआम गालियां दी जाती हैं । ईसाई बनने के लिये तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते है । एक अंग्रेज अफसर तो यहाँ तक कहता था, कि कुछ दिनों में सारा हिन्दुस्तान ईसाई हो जावेगा । न एक मन्दिर बचेगा और न एक मस्जिद रहेगी ।''[138]

कम्पनीबोर्ड के चेरमेन तो उस समय की प्रतीक्षा में लगे हुए थे कि कब सारा हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने धर्म को छोड़कर ईसाई धर्म को कबूल करे और उनकी शासन सत्ता को मजबूत करे ।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में वर्णाश्रम धर्म अपने अंधविश्वास और रूढ़िवादिता से बंधा हुआ था । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य धर्म सम्मानित वर्ग के अंतर्गत आते थे जबकी शुद्र निम्न वर्ग में । शूद्रों को जनेऊ धारण करने का अधिकार नहीं था । कठोर धर्म के पालक राजा गंगाधर राव भी जनेऊ को ज्यादा महत्व देते है । उपन्यास में जनेऊ का उल्लेख आया है । वर्मा जी लिखते है -

"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जनेऊ पहनते हैं - यह उनकी ऊँचाई की निशानी है, जो न पहिनता हो वह नीचा । इसलिए उन जातियों के कुछ लोगों ने, जिनके हाथ का छुआ पानी और पुड़ी मिष्ठान आम तौर पर ऊँची जाति के हिन्दू ग्रहण कर सकते थे, जनेऊ पहिनने आरंभ कर दिए ।"[139]

झाँसी में तत्कालीन काल में मंत्र शास्त्रों, तंत्रशास्त्रों, वैश्य आदि अनेक प्रकार के विशेषज्ञ थे । शाक्त, शैव, वाम मार्गी, वैष्णव काफी तादात में थे । अधिकतर वैष्ण और शैव ।

मुसाहिबजू

प्रस्तुत उपन्यास की धार्मिक पृष्ठभूमि के कम उल्लेख देखने को मिलते है । 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सभी जातियों के लोगों की अपने-अपने धर्म को मानने की संपूर्ण स्वतंत्रता थी । वर्णव्यवस्था समाप्त होती जा रही थी । उपन्यास में नायक दीलिपसिंह का पूरण को गले लगाना इस बात का संकेत करती है । उदाहरण देखिए -

रमू की आँखों में आँसू आ गए । बोला - "यह क्या किया, राजा ? इस तुच्छ सेवा के लिए इतना बड़ा पुरस्कार !"

'यह तो कुछ भी नहीं है' मुसाहिब ने उत्तर दिया और पूरन को छाती से लगाकर बोले, आज से यह मेरे बेटे के बराबर हुआ ।"[140]

इस शताब्दी में भारत ईसाई मिशनरियों द्वारा अपने धर्म का प्रचार एवं प्रसार आरंभ हो गया था परंतु वर्मा जी के उपन्यास 'झाँसी की रानी', 'रामगढ की रानी' एवं मूसाहीजबू नामक तीनों उपन्यासों में इस शताब्दी से संबंधित कोई उल्लेख नहीं मिलता है ।

4.3 उपन्यासों की राजनीतिक पृष्ठभूमि

भुवनविक्रम

साधारणतः राजा वंश परंपरागत होता था परंतु ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें राजाओं का चुनाव प्रजा द्वारा किया गया था । इसके अतिरिक्त जनता भी राज परिवारों से ही अगले राजाओं का चुनाव करती थी । राजा के कार्य मुख्यतः सैनिक एवं न्याय संबंधित होते थे । अपने राज्य को शत्रुओं से रक्षा करना और आक्रमणकारी शक्तियों से युद्ध करना उनका परम कर्तव्य था । जिसके लिए राजा के राज्यअभिषेक पर अश्वमेघ यज्ञ द्वारा राजा को शासक घोषित करवाया जाता था और राजा द्वारा प्रजा की रक्षा करने की शपथ दिलवाई जाती थी । अथर्ववेद में प्रजा की रक्षा का वर्णन आया है -

"इन्द्रो अड़ महद भयमक्षी बदय चुच्चवत्
स हि स्थिरो विचर्षणिः ।।5।।"[141]

भावार्थ :

राजा दृढ स्वभाव और सावधान रहकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ।

राज कार्य में राजा के अतिरिक्त अन्य लोगों की भी आवश्यकता पड़ती है अर्थात् उस समय कई मन्त्री हुआ करते थे । डॉ. उपेन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं -

"इन अधिकारियों को 'रत्निन' कहा जाता था । ये रत्निन (मन्त्री) उच्च कोटि के अधिकारी थे ।"[142]

"रत्निन' का शाब्दिक अर्थ राजा द्वारा रत्न पाने वाला है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रत्नियों की संख्या 11 है ।

(1) सेनानी
(2) पुरोहित
(3) युवराज
(4) महिर्षी
(5) सुत
(7) दाता
(8) संग्रहिता (कोषाध्यक्ष)
(9) भावदुध (कर संग्रह कर्ता)
(10) अक्षवाय (पाशा के खेल में राजा का सहयोगी)
(11) पालागल (राजा का मित्र)" [143]

(6) ग्रामणी

इन मन्त्रियों को अलग-अलग कार्य सौंपा जाता था । अर्थ विभाग की देखभाल राजा स्वयं करता था । सेनानी दूत या प्रहित जासूसी करते थे, ग्रामीणी भी सैनिक अधिकारी होता था । 'रत्निन' अपने विभाग के अध्यक्ष होते थे । वे राज कार्यो में राजा की सहायता करते थे तथा जनता के भले की बात निर्भीक होकर करते थे । राजा जनता की भलाई की रातदिन चिन्ता करता था तथा अपने को प्रजा का सेवक समझता था । इसके साथ ही वह अपनी सुरक्षा की भी चिन्ता करता था अपनी सुरक्षा के लिए वह गुप्तचरों की सहायता लेता था तथा इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि उसे भोजन में कोई विष न दे दे । उपन्यास में भी वर्मा जी ने कर्मचारी व्यवस्था पर प्रकाश डाला है । उदाहरण देखिये -

"नगर सभा थी और उसका सभापति पुरोहित सोम था । पुरोहित सोम उदार वृति का वेदज्ञ ब्राह्मण था । सब की सुनने वाला और बहुमत का आदर करेने वाला ।

मंच सभापति और राजा के लिए । अधिवेशन में रोमक नहीं आया । उसके अमात्य आए उनके पीछे आ बेठा भुवनविक्रम ।" [144]

राजा न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था । प्रजा के लिये बनाये गये कानूनों का भी वह रक्षक था । कानून तोड़ने वालों को उचित दंड देना उसी का कार्य था । वह स्वयं राजदंड से मुक्त था । गम्भीर अपराधों की सुनवाई वह स्वयं करता था । राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी होते थे जिन्हें अध्यक्ष कहा जाता था । गाँव के सभी मामले ग्राम-न्यायाधीश 'ग्रामवादिन' द्वारा निपटाये जाते थे । छोटे-छोटे दीवानी मामलों पर पंच निर्णय देते थे । 'यजूर्वेद' में न्याय विधान का एक उदाहरण देखिए -

''होता यज्ञत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम् ।
इन्द्र देव स्वर्विद पथिमिर्मधुमत्तमैर्नराश
सेन तेजसा वैत्वाज्यस्य होतर्यज ।।2।।''[145]

भावार्थ :

जो राजा लोग स्वयं राज्य के न्याय मार्ग में चलते हुए प्रजाओं की रक्षा करें वे पराजय को न प्राप्त होते हुए शत्रुओं को जीतने वाले हो ।

उपन्यास में भी न्याय तथा दंड का उल्लेख आया है । दंड व्यवस्था का उदाहरण देखिए,

जब सोम द्वारा मेघफनी, हिमानी, दिर्दबावु, आदि को राजद्रोही तथा 'भुवनविक्रम' को मारने के लिए रचे गये षडयंत्र के लिए दंड की व्यवस्था की जाती है ।

"दंड की व्यवस्था होने लगी । उन सबको प्राणदंड देने की बात उठी । रोमक राजा नहीं था, इसलिए बंदीगृह में डाल लेने की चर्चा हुई...'

सोम ने कहा - जब तक राजा को फिर से गद्दी नहीं मिलती, शासक मंडल का सदस्य मैं तो हूँ । मैं दंड देता हूँ । सोम ने निश्चय के साथ निर्णय किया प्राणदंड नहीं दिया जाता है । देशनिकाले का दंड पर्याप्त होगा ।[146]

देवगढ़ की मुस्कान

11वीं शताब्दी के राजनैतिक साहित्यों का अध्ययन करके पता चलता है कि उस समय देश (प्रान्तविशेष) का उच्चाधिकारी राजा नेता होता था । वह निरंकुश बन चुका था। 11वीं शताब्दी में देश का राजा महमूद गजनवी था जो भारतीय रज्यों को सत्रह बार आक्रमण कर त्रस्त कर चुका था । कुछ इतिहासकार महमूद गजनवी के भारतीय आक्रमणों का उद्देश्य राजनैतिक बतलाते हैं । इस विषय पर डॉ. अरोरा लिखते हैं -

"इन इतिहासकारों का मत है कि महमूद गजनवी एक महान साम्राज्यवादी नेता तथा महत्वकांक्षी शासक था । वह गजनी के छोटे से राज्य को पाकर सन्तुष्ट नहीं हो सकता था । इसी कारण सिंहासनारूढ़ होने के पश्चात् ही उसने अपने आस-पड़ोस के प्रदेशों का विजय करना आरम्भ कर दिया । अफ़गानिस्तान तथा खुरासान को विजय करके उसने गजनी में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाया तथा तदन्तर भारत की और ध्यान दिया । वह एक विस्तृत से विस्तृत साम्राज्य स्थापित करना चाहता था ।"[147]

महमूद गजनवी के आक्रमण के समय भारत राजनीतिक दृष्टि से विश्रृंखलित था । वह अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था । ये राज्य स्वतंत्र थे और एकदूसरे के प्रति द्वेषभाव रखते थे । साम्राज्य विस्तार की लालसा से वे निरन्तर संघर्षरत रहते थे । डॉ. प्रतापसिंह लिखते है - "उत्तरी भारत में और भी अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें गुजरात के चालुक्य, बुंदेलखंड के चन्देल और मालवा के परमार अधिक शक्तिशाली थे। इन सभी राज्यों में निरंतर संघर्ष चलता रहता था । यशोवर्मन के पुत्र धंग (450-1002 ई.) के शासन काल में चन्देलों की शक्ति काफी बढ़ गई थी और धंग का पुत्र गंड भी एक शक्तिशाली राजा था जिसने महमूद गजनवनी के आक्रमण के विरूद्ध पंजाब के राजा आनन्दपाल की सहायता की थी ।"[148]

उस समय चन्देलों के राजा (गंड) राजा थे । 1019 ई. में विद्याधर देव तथा महमूद गजनवी के बीच युद्ध हुआ था । इस युद्ध में विद्याधर ने गजनवी के दांत खट्टे किये थे । गजनवी ने फिर से भारत पर आक्रमण किया पर वह विद्याधर को पराजित नहीं कर पाया और उसने विद्याधर से संधि कर ली ।

इस संबंध में 'भारत का इतिहास' में लिखा है -

"वह कालिंजर की ओर बढ़ा । कालिंजर को घेर लिया गया किंतु सरलता से उस पर अधिकार न हो सका । घेरा दीर्धकाल तक चलता रहा । महमूद गज़नी लौटने का इच्छुक था इसलिए उसने चन्देल राजा से सन्धि कर ली ।"[149]

उपन्यास में भी महमूद गजनवी तथा विद्याधर के युद्ध, विद्याधर से संधि का उल्लेख आया है जब विजयपाल देव अपने पिता का और गजनवी के युद्ध की चर्चा करते हुए महिपालजी से कहते -

"ठीक कहते हो महिपालजी, उस समय की घटनाओं का पूरा स्मरण है । महमूद ने कलिंजर का घेरा डाला । महीनों डाले रहा । कुछ न कर सका । तब उसने संधि की चर्चा चलाई ।"[150]

इस प्रमाण से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि वर्मा जी ने उस समय के एतिहासिक साहित्यों का गहरा अध्ययन किया है ।

भारत में महमूद गजनवी का अन्तिम आक्रमण सोमनाथ पर हुआ । महमूद की मृत्यु के बाद मखूद, हजमुद्दीन, इब्राहीम, बगुलीशाह, बहरामशाह आदि के नेतृत्व में तुर्को ने भारत पर आक्रमण जारी रके ।

इसके अतिरिक्त समय मिलते ही अनेक छोटे-बडे सामन्त राजा बन बैठते थे । अतः आए दिन युद्ध तो होते ही रहते थे । प्रत्येक राजा युद्ध द्वारा अपने राज्य की सीमा बढ़ाने में लगे रहते थे । उन दिनों विद्याधर के बाद उसका पुत्र चन्देल राजा विजयपाल देव जो (1030 ई - 40 ई) में उस समय बुन्देलखंड के राजा थे । जिन्होंने बुन्देलखंड का पूर्व और पश्चिम तक का विस्तार कर लिया था । उपन्यास में विजयपाल का परिचय लेखक इस प्रकार करते है - "दस सो तीस-चालीस ई. (1030 ई.) के लगभग जिझोति के राजा उन दिनों विजयपाल देव थे ।"[151]

इसके अतिरिक्त एक ही राज्य के लोग अन्दरों-अन्दर युद्ध करते थे । विशुद्धानन्द इस संबंध में लिखते है - "चन्देलों के दुर्भाग्य से वह ऐसे समय शासक हुआ, जब गांगेयदेव (1019-1041 ई.) के नेतृत्व में त्रिपुरी का कलचुरिवंश और भोज (1010-1055 ई.) के नेतृत्व में अवन्ति का परमारवंश अपने दिग्विजय व्यापार में लगकर अपनी अपनी श्री और सीमाओं की वृद्धि कर रहे थे ।"[152]

उपन्यास में भी कलचुरी तथा भोजवंश द्वारा विजयपाल देव से युद्ध करके राज्य हाथ लेने का उल्लेख आया है -

"चन्देलों ने बहुत समय राज्य कर लिया, अब छिन्न-भिन्न होने का युग आ गया है । कल्चुरी दक्षिण में प्रबल हैं । गांगेयदेव प्रयाग चले गए तो क्या हुआ, उनका पुत्र लक्ष्मीकर्ण उनसे कहीं अधिक प्रबल है । युद्ध हो जाये तो काम बन जाये । विजयपाल देव के पिता विद्याधर से गांगेयदेव दबे रहे, परंतु लक्ष्मीकर्ण सिर नहीं झुकाएँगे, हमारा विश्वास है । इधर धार के भोज बहुत सशक्त है ।"[153]

उस समय राज शिबिर में एक विशाल मंडप के नीचे नियुक्त तिथि पर राजसभा होती थी । राज्य में सर्वोच्च सत्ता राजा की होती थी, वह संपूर्ण शक्ति का केन्द्र होता था । सारे फैसले वही लेता था । राजा परंपरा के अनुसार अपने मंत्रियों से सलाह लेकर काम करता था । "मंत्रियों में 5 मंत्रियों का विशेष स्थान था - महामंत्री अथव महामात्य, सेनापति अथवा दंडनायक, सन्धि विग्रहक, कवियों और पण्डितों की देखभाल करने वाला मन्त्री तथा पौराणिक ।"[154]

उपन्यास में भी राजसभा के मंत्रियों का उल्लेख आया है । इस बात की पुष्टि निम्नलिखित उदाहरणों को देखकर हो जाती है दिखिए - विजयपाल देव के महामन्त्री का उदाहरण -

"उनका मंत्री महिपाल कई महीनों का अभियान करके एक दिन पहले लौटा था । उतरती अवस्था का था, परंतु उसकी नस-नस से शक्ति झलकती थी ।"[155]

दंडनायक का एक उदाहरण देखिए -

उस समय सारे मुकदमे राजभा में दंडनायक के समक्ष होते थे । इष्टदेवता की शपथ दिलवाकर सारा विवरण कहा जाता था । दंडनायक क एक उदाहरण देखिए -

"दंडनायक के सामने वाद प्रस्तुत हुआ । वाद का विषय लिपिक ने पढ़ा । फिर धनपाल से कहा गया कि शपथ लेकर घटना सुनावे ।"[156]

इसके अतिरिक्त सधिव, राजसधिव, राज कर्मचारी आदि का उल्लेख भी उपन्यास में आया है ।

राजा के युद्ध में विजय प्राप्त करके लौटने पर तथा राज्य गमन करके लौटने पर प्रजा उसका स्वागत मंडप तथा राजसभा में करती है । वे फूलों, माला, नाच-गान पेश करके राजा का यशगान करती है । राजा का जयकारा लगाती है । उपन्यास में राजा विजयपाल देव का स्वागत इसी प्रकार होता है -

"राजा के आगमन की सूचना मिली, बाजे बजे । जो जन मंडप में बैठे थे, खड़े हो गए और राजा के आने की दिशा में टकटकी लगाने लगी । जैसे ही ये मंडप द्वार के

निकट आए, जयकार की ध्वनियाँ गूँज उठी । प्रवेश करते ही फूलों की वर्षा हो उठी ।...'' [157]

प्रस्तुत काल में राजा न्याय प्रिय होते थे । जो निरंकुश होने पर भी विजयपाल देव जैसे राजा भोग-विलास से बचे हुए थे । तथा प्रजा को अपने पुत्र के समान समझते थे । प्रजा की भलाई के लिए कुएँ खुदवाना, तालाब बनवाना, मन्दिर बनवाना आदि कार्यो में वे लोग लगे रहते थे । वे प्रजा की समस्याओं को सुलझाने में आर्थिक रूप से भी मदद करते थे । उपन्यास में विजयपाल देव निर्धन की मदद करते हैं । उपन्यास का एक पात्र अपनी पत्नी के गहने न देने पर पिटाई कर रहा होता है, कारण पूछने पर उसने बताया कि -

''श्री मान जी नगर के बाहर एक राज्य कुआ खुदवा रहा है मैं वहाँ काम करता हूँ। आठ दिन से पैसा नहीं मिला है, साहूकार से रिन इसी के गहने-कपड़े के लिए लिया था । ब्याज बहुत बढ़ गया है... पुरूष ने रकम बतलाई । उस व्यक्ति (राजा) ने अपने भीतरी कपड़े की जेब से सोने की दो मुहरें निकाली और स्त्री की गदेली पर रखते हुए कहा, दे दो इन्हें !''[158]

न्याय के अतिरिक्त दंड देने का अधिकार भी राजा को होता था । राजद्रोहियों को उस समय अंगभंग दंड देने की परंपरा चली आ रही थी । इसका उल्लेख इतिहास में भी मिलता है । भारतीय इतिहास में लिखा है -

''न्याय के लिए साधारणतया लिखित आवेदन-पत्र प्रस्तुत किए जाते थे । मौखिक न्याय-प्रार्थनाओं पर भी विचार किया जाता था । शपथ लिवाने की प्रणाली प्रचलित थी और गवाहियों के अनुसार निर्णय दिया जाता था । दंड-विधान कोमल था । ब्राह्मण प्राणदंड से मुक्त थे । चोरी का दंड गए धन के मूल्य के अनुसार दिया जाता था । कुछ अपराधों के लिए अंग-भंग का दंड भी विधिविहित था ।''[159]

दंड का उल्लेख तो प्रस्तुत उपन्यास में भी आया है । जब राजा विजयपाल देव भुजंग और गनपत को अंग-भंग देने की सजा सुनाते है । देखिए -

"राजा, अच्छा-अच्छा ! बंदीगृह में भेजे जा रहे हो । सब बात आजकल में सच-सच बतला देना । झूठ बोलने के अपराध में मारक मंत्र जपने के पाप में आज केवल तुम्हारे दाएँ हाथ का अँगूठा काटा जाएगा ।"[160]

परंतु उपन्यास में लेखक ने अपनी सुधारवादी विचारधारा को अपनाया है । उन्होंने मुनि रत्नगिरि नामक पात्र जो धर्म का उपदेश देते है, शास्त्रार्थ करते है । उनके द्वारा हिंसा का विरोध करवाया है वे राजा को अंगभंग करने के दंड को त्यागने के लिए कहते है । और राजा उनकी आज्ञा स्वीकार करते हुए कहते है -

"मैं यह दंड नहीं दूँगा । अभी सचिव द्वारा कहलवाए देता हूँ कि अंग-भंग का दंड कदापि न दिया जाय ।"[161]

गढकुंडार

यह उपन्यास की कथा 13वीं शताब्दी के अंतिम और 14वीं शताब्दी के प्रारंभिक काल से संबंधित है । इस शताब्दी में राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राज होता था । राजा के बाद उसका पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता था । इसके अतिरिक्त जो राजा युद्ध में अपनी शक्ति का बल दिखाकर अन्य राजा को पराजित करता, सत्ता उसी की होती थी । प्रस्तुत काल में कुंडार गढ़ का उच्चाधिकारी राजा हरूमतसिंह था । इसके पहले कुंडार गढ़ पर कई राजवंश बैठे जिनमें गौड़, मौर्य, चन्देल, चौहान आदि प्रमुख है । सन् 1182 में पृथ्वीराज चौहान ने अंतिम चन्देल राजा परमर्दिदेव को पराजित कर चन्देल-गौरव को सदा के लिए अस्त कर दिया । इसका प्रमाण हमें 'बुन्देलखंड का परिचय' नामक पुस्तक में मिलता है -

"मदनपुर शिलालेख के अनुसार दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने संवत् 1239 (1183 ई.) में जेजामुक्ति पर आक्रमण किया था । इस युद्ध में राजा परमर्दिदेव पराजित हुए ।"[162]

इसके बाद सन् 1192 में पृथ्वीराज स्वयं सहाबुद्दीन गोरी से पराजित हे । उस समय कुंडार और राज्य पृथ्वीराज चौहान के सुबेदार और सामंत खेतसिंह खंगार के हाथ

में था । वह 1992 के बाद स्वतंत्र हो गया और खगारों के हाथ में जुझोति का अधिकांश भाग अस्सी वर्ष के लगभग रहा । इस बीच मुसलमानों ने कुंडार पर अनेक आक्रमण किये पर उसे लम्बे समय तक कब्जे में न रख सके । इसका उल्लेख वर्माजी ने उपन्यास में किया है वे लिखते है -

"जुझोती में केवल कुंडार ऐसा राज्य था जहाँ सत्तर-पच्चत्तर वर्ष के कुछ शांति थी उन दिनों एक मनुष्य को दूसरे का भय लगा रहता था । मनचले यौद्धा युद्ध और अशांति के समय का स्वागत किया करते थे । मुसलमान टूट पड़े उन्होंने एक-एक करके किलेबंद राजाओं को हरा दिया और जहाँ पीठ फेरी, तहा फिर उन किलों को हिन्दुओं की किसी-न-किसी जाति ने अपने अधिकार में कर लिया । यह क्रिया इसी तरह बहुत दिनों तक जारी रही ।"[163]

उस समय बुन्देलखंड का कुछ भाग दिल्ली राज्य में मिल गया था । परंतु 1200 से 1300 तक का समय, संघर्ष का युग था । तुर्को ने उत्तर भारत के इलाके अपने हाथ में ले तो लिये थे परंतु उनकी स्थिति डांवाडोल थी । उनका राज्य ठीक से जमा नहीं था। उनमें भी आपसी लडाईयाँ हुआ करती थी । उस समय दिल्ली का बादशाह गयासुद्दीन बलबन था । बलबन का उल्लेख उपन्यास में आया है जब विष्णुदत्त अपने पुत्र से कहता है -

"बेटा मुझे शीघ्र ही दिल्ली जाना होगा । भरतपुरा की लड़ाई की सूचना को न मालूम क्या रूप देकर दिल्ली भेजा जाएगा । महाराज मुझको दिल्ली शिकायत करने भेज रहे है । यदि बलबन बंगाल के युद्ध में मर गया तो..." [164]

ऐतिहासिक पुस्तक में भी बलबन का उल्लेख मिलता है देखिए प्रमाण "सन् 1265 के अन्त में महमूदशाह बीमार हुआ और फरवरी 1266 में उसकी मृत्यु हो गई । उसके बाद गयासुद्दीन बलबलन जो उसका ससुर था, उसकी गद्दी पर बैठा ।"[165]

अंत: राजनीतिक दृष्टि से यह काल उथल-पुथल का रहा था । जरा जरा सी बात को लेकर तलवार खींच जाती थी और युद्ध छीड जाते थे । खंडारों और बुन्देलों के बीच

युद्ध इस बात का प्रमाण है । सोहनपाल जी ने हुरमत सिंह से सहायता माँगी पर राजा ने सहायता देने से अस्वीकार कर दिया तथा सहायता देने के लिए राजा ने अपने पुत्र नागदेव का विवाह सोहनपाल की पुत्री से करवाने की शर्त रखी । इस पर दुखी होकर सोहनपाल ने चंदेल राजा तथा खंगारों पर चढाई कर दी और सारे चन्देलों को मार दिया। और हुरमत सिंह लड़ाई में हार गया ।

इतिहास में इसका उल्लेख आया है । गोरेलाल तिवारी लिखते है -

"सोहनपाल बड़ा साहसी और दृढ़ प्रतिज्ञ था । इसने अपना स्वतंत्र राज्य कायम करने की ठान ली थी इससे यह धीरे-धीरे लोगों को अपनी ओर मिलाने लगा और राजपूत भी दिल से सहायता देने लगे । अंत में इसके पास एक बड़ी सेना हो गई । इसने पहले हुरमतसिंह से सहायता माँगी थी पर उसने न दी थी, इससे सोहनपाल वो बदला लेना चहा और यहाँ से इसने अपने पुत्र सहजेंद्र को, अपने पुरोहित और धीर नामक प्रधान के साथ, गढकुंडार के राजा हुरमतसिंह के पास दुबारा भेजा । इस समय इसने अपने साहूकार विष्णु पें के कहने पर सहायता देना तो स्वीकार कर लिया, परंतु अपनी लड़की का विवाह राजकुमार के साथ करने का वचन लेना चाहा । इसे सुन सोहनपाल बहुत दुःखी हुआ और उसने वि.सं. 1314 में चढाई कर दी । इस समय इसे परमार और धंधरों ने ही सहायता दी और चौहान, कछवाहे, शिलिगा तथा तोमरों ने सहायता देने से मुँह मोड़ लिया । हुरमतसिंह लड़ाई में हार गया । इससे सोहनपाल ने गढकुंडार पर अधिकार कर लिया ।"[166]

न्याय तथा दंड विधान के फैसले राजा ही करता था । अपराधियों को आजीवन केद की सजा सुनाई जाती थी । तथा उसे राज्य से बहार निकाल दिया जाता था । कभी-कभी उनकी सजा माफ भी कर दी जाती थी । देश-द्रोही को प्राण दंड दिया जाता था । उपन्यास में जब राजा नागदेव को पता चलता है की उसका मित्र अग्निदत्त उसकी बहन से प्रेम करता है तब वह उसे प्राण दंड न देकर राज्य से बहार निकाल देने की सजा सुनाता है । वह कहता है -

"मौत नहीं । पुरानी बातों का स्मरण करके तेरे लिए दूसरा दंड निर्णय करता हूँ । इसी समय कुंडार छोड़कर किसी नरक में जा डूब । कभी अपना पापी मुँह कुंडार के राज्य में मत दिखलाना । यदि कभी इस राज्य की सीमा में देखा गया, तो खेतसिंह की सौगंध खाता हूँ कि खाल खिंचवाकर भुस भरवाऊँगा और तेरे कुटुंब का कोई भी दुर्दशा से न बचने पावेगा ।"[167]

मुस्लिमों में दंडविधान इस प्रकार है । हिन्दू अपराधी को केद कर लिया जाता था तथा उसे मुसलमान बनने के लिए कहा जाता था । अगर वह इसका विरोध करता तो उसे तुरंत मृत्युदंड दे दिया जाता था । इसके अतिरिक्त मुस्लिम अपराधियों को कोडे लगवाने का दंड दिया जाता था तथा निर्दयतापूर्वक वध करवा दिया जाता था । बलबन का न्याय अत्यन्त कठोर ही नहीं क्रूर था । इतिहास में इसका उल्लेख इस प्रकार है -

"मालिक बकबक बदायुं का जागीरदार था जो सुल्तान की सेना में चार हजार सवार रखा करता था । उसने एक नोकर के इतने कोड़े लगवाये की वह मर गया । जब उसकी विधवा ने शिकायत की तो बलबन ने मलिक बकबक को कोडे लगवा कर मृतक प्राय कर दिया... इसी प्रकार उसने दूसरे सरदार ऐबक खां को भी जो चालीसों में गिना जाता, दंड दिया था ।"[168]

उपन्यास में भी मुस्लिमों के दंड विधान की चर्चा वर्मा जी ने की है जब राजा नागदेव तथा उसके सहयोगी मुस्लिम केदी से उनके दंड विधान के बारे में पूछते है । वह कहता है - "कैद वैद दे देते है और कोई स्वीकार करे, तो मुसलमान बना देते तथा संसार से बिदा कर देते है ।"[169]

मृगनयनी

प्रस्तुत उपन्यास 1486 से 1516वीं शताब्दी से संबंधित है । इस शताब्दी में अबतक राजतंत्र में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था । देश किसी एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन न था । आये दिन युद्ध छोड जाते थे । राजा लोग एकदूसरे की सत्ता छीनने की ताक में लगे रहते थे । राजा, शासित जनता द्वारा चुना हुआ नहीं होता बल्कि वंशगत होता था

या किसी दूसरे राजा को युद्ध में पराजित करके राजा बनता था और सत्ता उसीकी कहलाती थी । इस काल में दिल्ली का सुल्तान सिकन्दर लोदी था जो अपने पिता लोदी का उत्तराधिकारी था । इतिहास में इसका उल्लेख मिलता है -

"बहुलोल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र निजाम खाँ सभी अमीरों की सहमति से शुक्रवार 17 शाबान 894 यानी 17 जुलाई 1489 को गद्दी पर बैठा और उसने 'सिकन्दर शाह' की उपाधि धारण की ।"[170]

इस समय दक्षिण, गुजरात, मालवा, जोनपुर तथा बंगाल में स्वतंत्र राज्य स्थापित हो चुके थे । गुजरात में महमूद बधर्रा, मालवा में ग्यासुद्दीन खिलजी और उसका उत्तराधिकारी नसीरूद्दीन, दक्षिण में बहमनी सल्तनत तथा ग्वालियर में राजा मानसिंह तोमर आदि राज कर रहे थे । इस काल में सभी राजा एक दूसरे के राज्य को छीनने में लगे रहते थे और अपने राज्य का विस्तार करते थे । उपन्यास में भी इन सभी राज्यों का उल्लेख वर्माजी ने विस्तारपूर्वक किया है । तथा परिचय पृष्ठ में लिखा है -

"उत्तर में सिकन्दर लोदी, गुजरात में महमूद बधर्रा का अगणित विजन और रक्तपात, मालवा में गयासुद्दीन के र उसके उत्तराधिकारी नसीरूद्दीन का अत्याचार... जोनपुर, बिहार और बंगाल में पठान सरदारों की निरन्तर नोच-खसोट और इन सबके लगभग बीच में ग्वालियर... ।"[171]

इस समय में ग्वालियर का राजा मानसिंह तोमर था जो राजपूत थे । मानसिंह ने 1486 से 1516 तक ग्वालियर पर राज किया और अनेकों बार ग्वालियर को पराजित होने से बचाया । सिकन्दर लोदी ने अनेकों बार ग्वालियर पर विजय प्राप्त करने के लिए सफल प्रयास किए, पर वह असफल रहा । इसके पहले उसके पिता बहुलोल लोदी ने भी ग्वालियर पर आक्रमण किए पर उन्हें भी मानसिंह से पराजित होकर वापस लौट जाना पड़ा ।

ग्वालियर पर फिर से आक्रमण करने से पहले उसने (सिकन्दर) धौलपुर पर हमला किया । धौलपुर उस समय तोमर वंशी राजा के अधिपत्य में था । जो राजा मानसिंह का

सहायक था । इसका उल्लेख ऐतिहासिक साहित्य में आया है । इस संबंध में डॉ. प्रतापसिंह लिखते है -

"धौलपुर के शासक के अति उग्र विरोध के फलस्वरूप यह युद्ध गिरते-उठते लगभग तीन वर्ष तक चलता रहा और तब 1504 ई. में धौलपुर पर सिकन्दर का आधिपत्य स्थापित हो सका ।"[172]

उपन्यास में भी वर्मा जी ने उस समय की तत्कालीन स्थिति का उल्लेख किया है जिसकी पुष्टि संदर्भ पढ़कर हो जाती है -

"...सिकन्दर मेवाड़ की ओर से धौलपुर पर इतनी तेजी के साथ चढ़ दौड़ा था कि ग्वालियर से सहायता न आ सकी... ।"[173]

ग्वालियर के तोमर वंशी अधिक शक्तिशाली थे और ग्वालियर युद्ध के लिए दूर भी पड़ता था । जिससे सिकन्दर की सेना के रहने करने, खाद्य सामग्री में काफी आय खर्च हो जाती थी । ग्वालियर पर विजय प्राप्त करने के लिए उसने ग्वालियर के नजदीक एक नगर का निर्माण किया जिसका नाम आगरा था । रविभानु नाहर सिंह लिखते है -

"सन् 1504 ई. में सुल्तान ने आगरा नगर की नींव डाली और कुछ वर्षो बाद सुल्तान स्वयं वहाँ स्थायी रूप से निवास करने लगा ।"[174] इससे पहले आगरा एक नगण्य स्थान था । और आगरा रहकर फिर उसने ग्वालियर पर आक्रमण किया परंतु वह फिर पराजित हो गया । सिकन्दर ने लगभग पाँच बार ग्वालियर पर आक्रमण किए और पाँचों बार उसे वापस लौट जाना पड़ा । इस संबंध में रविभानु नाहर ने लिखा है -

"ग्वालियर जीतने का सिकन्दर ने अनेक बार प्रयास किया लेकिन जिस प्रकार मुघल काल में दक्षिण की शक्ति औरंगजेब की शक्ति से कम नहीं थी, उसी प्रकार ग्वालियर का राजा भी सिकन्दर से कुछ कमजोर नहीं था । सिकन्दर ने ग्वालियर नरेश मानसिंह का गर्व खर्व करने के अनेक प्रयत्न किए लेकिन वे निष्परिणाम रहे ।"[175]

इसके अतिरिक्त एक ही राज्य के राजा अपने पुरखों का बदला लेने के लिए अन्दर ही अन्दर युद्ध करने के लिए तत्पर रहते थे । उपन्यास में इसका उल्लेख

मिलता है - जब चंदेरी का राजा राजसिंह नरवर को फिर से प्राप्त करना चाहता था । उदाहरण देखिए -

"भाट ने राजसिंह कहा, वीर सिंहदेव तोमर ने आपके पुरखों से नरवर को छीना था । बी सौ ही बरस हुये हैं, जैसे कल की बात हो । पुरखों के अपमान का बदला चुकाओं औ नरवर को वापिस लो । नरवर कछवाहों का है, तोमरों का नहीं है ।"[176]

अपनी सैन्य शक्ति कम होने के कारण कुछ राजा अन्य राजा के साथ संधि कर लेते है । यह नीति पहले से चली आ रही है । राजा राजसिंह ने इसी नीति को अपनाया और सुल्तान सिकन्दर लोदी से संधि कर ली । जब सिकन्दर ने ग्वालियर पर घेरा डाला परंतु ग्वालियर हाथ न लगने पर उसने ग्वालियर राज्य में स्थित नरवर पर आक्रमण किया तब उसकी सहायता के लिए चन्देरी का राजसिंह भी आ गया । क्योंकि नरवर पर दावा राजसिंह कछवाह का था । इसकी पुष्टि ऐतिहासिक साहित्यों में मिल जाती है - 'मध्यकालीन भारत' में लिखा है -

"इसके बाद राजपूतों के एक अन्य गढ़ नरवर पर हमला किया गया । यह किला सन् 1398 ई. से तोमर राजपूतों के नियंत्रन में था । करीब साल भर तक घेरा डाले रहने के बाद किले पर कब्जा कर लिया गया । किले का पतन हो जाने पर वहाँ भी मस्जिदें बनाई गई, उलेमा बसाए गए और तालीम हासिल करने वालों को वजीफे दिए गए । लौटने के पहले वह किला राजसिंह नाम के कछवाहा राजा को सुपुर्द कर गया ।"[177]

वर्मा जी ने इस आक्रमण का भी उल्लेख प्रस्तुत उपन्यास में किया है जिसकी पुष्टि हो जाती है । उदाहरण देखिए -

"सिकन्दर और राजसिंह ने नरवर पर हमले पर हमले किये, परंतु नरवर के फाटक टस से मस न हुये ।... नरवर के घेरे को बारवाँ महीना लग गया । सिकन्दर दाँत किचकिचा कर नरवर के विनाश पर डटा हुआ था । उसको विश्वास था कि हथियारों से नरवर को न मिटा सके तो भूखों मारकर तो मिटा ही लूंगा । और ऐसा ही हुआ ।

सिकन्दर को विजय मिल गई । छः महीने के बाद उसने राजसिंह को बुलाया और किला तथा नरवर की जागीर उसे देकर ग्वालियर की ओर चल दिया ।"[178]

उपर्युक्त उदाहरणों से इस बात की पुष्टि हो जाती है कि वर्मा जी ने उस समय के ऐतिहासिक साहित्य को, घटनाओं का अच्छे से अध्ययन किया और अपनी लेखनी में शामिल किया ।

महारानी दुर्गावती

इस शताब्दी में तत्कालीन जितने छोटे-बड़े रजवाड़े थे वे पारस्परिक कलह, विद्वेष, स्वार्थपरता और दूसरे की स्वतंत्रता के अपहरण में सतत प्रयत्नशील थे । फलतः विदेशी आक्रमण और सत्ता विस्तार के लिए पर्याप्त अवसर था । शेरशाह सूरी, हुमायू, हेमू, अकबर आदि के कारण उत्तर भारत युद्ध का मैदान बना हुआ था । आये दिन युद्ध छिड़ जाते थे । युद्ध के बाद जो विजय प्राप्त करता राज्य का उच्च अधिकारी वही कहलाता और वही राजा होता था । 16वीं शताब्दी में इस समय शेरशाह सूरी ने भारत के कई रज्यों को जीतकर कई राज्यों का शासन अपने हाथों में ले लिया था । उसके साम्राज्य के विस्तार के विषय में श्री वास्तव जी लिखते हैं -

"दिल्ली विजय करने से पूर्व शेरशाह ने बंगाल और बिहार के प्रान्त अपने अधिकार में कर लिये थे । हुमायूँ पर अन्तिम रूप से विजय प्राप्त करने के कुछ ही वर्षो के अन्दर उसके साम्राज्य के अन्तर्गत आसाम, काश्मीर और गुजरात को छोड़कर संपूर्ण उत्तरी भारत आ गया था । यह पूरब में सोनार गाँव (जो अब पूरबी बंगाल में है) तक और पश्चिम में गक्खर प्रदेश तक फैला हुआ था । उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण में विंध्याचल पर्वत तक यह सीमित था । उसके साम्राज्य में सिन्धु नदी, मुल्तान और सिन्ध तक पंजाब का अधिकांश भाग सम्मिलित था । दक्षिण की ओर जैसलमेर को छोड़कर राजस्थान, मालवा और बुन्देलखंड को साम्राज्य में मिला लिया था । बीकानेर के कल्याणमल ने उसकी सत्ता स्वीकार कर ली थी और अपनी रियासत 1544 ई. में मालदेव के हार जाने के बाद उससे वापस ले ली थी । गुजरात अफगान साम्राज्य में

सम्मिलित नहीं किया जा सका क्योंकि शेरशाह ने उसे जीतने की भी चेष्टा नहीं की ।''[179]

उपन्यास में अमुक राज्य का उल्लेख आया है । उदाहरण देखिए -

"शेरशाह के पास बाडीबाड़ी सेना है । तोपें हैं । मालूम हुआ है पहले राजस्थान पर आक्रमण करेंगा ,जोधपुर के महाराज मलदेव पर फिर कालिंजर पर ।" [180]

इस शताब्दी में शेरशाह सूरी का काल 1530 से 1545 तक था । उसने भारत पर अनेकों बार आक्रमण किये थे । उसका अंतिम युद्ध कालिंजर के राजा किरतिसिंह के सथ था जो दुर्गावती के पिताजी थे । कालिंजर पर विजय प्राप्ति के बाद शेरशाह की मृत्यु हुई। वह युद्ध 1 वर्ष तक चला था । उपन्यास में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है । उसकी मृत्यु के विषय में श्रीवास्तव जी लिखते हैं -

''22 मई, 1545 ई. को शेरशाह ने दुर्ग पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी और स्वयं आक्रमणकारियों के आगे बढ़ा । वह बुर्ज पर चढ गया और अपने आदमियों को बारूद के पतीले लाने के लिए आज्ञा दी, जिन्हें दुर्ग के अंतर फेंका जाय । इन पतीलों को जब फेंका गया तो इनमें से एक नगर-द्वार से टकराकर फटा और लौटकर गोला-बारूद की ढेरी में, जो शेरशाह के खड़े होने के स्थान के नीचे थी, आ गिरा, जिससे भयंकर विस्फोट हुआ और शेरशाह बहुत बुरी तरह जल गया । शीघ्र ही उसे उसके खेमे में ले जाया गया । उसने अपने आदमियों को आक्रमण जारी रखने की आज्ञा दी । आक्रमण सफल हुआ और दिन छिपने तक कालिंजर का दुर्ग अफ़गानों के अधिकार में आ गया । जब दुर्ग पर अधिकार होने और दुर्ग रक्षकों के कत्लेआम का समाचार शेरशाह को सुनाया गया, तो ''प्रसन्नता और सन्तोष के चिन्ह उसके चेहरे पर प्रकट होने लगे ।'' इसके तुरंत बाद ही वह मर गया । (22 मई, 1545 ई.)'' [181]

उपन्यास में वर्मा जी ने कालिंजर के राजा कीर्तिसिंह और शेरशाह के युद्ध तथा मृत्यु का वर्णन किया है इसकी पुष्टि हो जाती है । शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् अराजकता और फैल गई । इस संबंध में लेखक ने राजनीतिक गतिविधि के विवरण को

नितांत ऐतिहासिक तथ्यों के रूप में चित्रित किया है । "शेरशाह के मरने के उपरांत दिल्ली की बादशाही में पूरी गड़बड़ी मच गई । हुमायूँ पाँच वर्ष पहले कन्नोज का युद्ध हारकर उखड़ गया था । भारत के अधिकांश भाग में अशांति और उपद्रव का साम्राज्य-सा था । बाहर के आक्रमणकारियों का व्यक्तित्ववाद राजत्व के इस दावे से मेल नहीं खाता था कि एक पीढ़ी के उपरांत उसी वंश की दूसरी पीढ़ी राज्य करे । उत्तराधिकार का यह दावा उस व्यक्तिवाद से असंगत था । जिसे किसी बादशाह या सुल्तान ने अपने और वंश के अधिकार का व्यक्तिवाद के साथ मेल कराना चाहा, जरा भी बल क्षीण हुआ कि असफल हो गया । महत्वाकांक्षी, मुसलमान सामंत और सरदार किसी 'खानदानी' हक को नहीं मानते थे । वे तो सशक्त बाहुओं के बल और लोहे की धार के सामने ही झुकते थे। 'किसी को भी सल्तनत पाने का मौरूसी हक नहीं है, सल्तन उसी की जो अपनी तलवार के जोर से हथियावे' इस सिद्धांत को मान्यता प्राप्त थी ।"[182] और बाद में दिल्ली का शासन मुगलों के हाथ में चला जाता है । हुमायूँ के पश्चात् अकबर 14 वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठता है । इस विषय में शिवकुमार लिखते हैं -

"हुमायूँ की मृत्यु का समाचार मिलने के समय अकबर गुरदासपुर जिले के कलानूर या कलानौर नामक स्थान पर था ।... राजसिंहासन खाली न रहे, इस उद्देश्य से बैरमखाँ ने कलानूर के बाग में शीघ्रता से ईंटों का छः मीटर लम्बा और एक मीटर चौड़ा चबूतरा बनवा कर उस पर अकबर का अभिषेक करा दिया । (14 फरवरी, 1556)" [183]

जहाँ देखों वहाँ महत्त्वाकांक्षी आक्रमणकारी सिर उठाए स्वतंत्र रियासत की स्थापना पर जुट रहा था । लूटमार मची थी । गोंडवाना भारत के उन थोड़े से बड़े क्षेत्रों में था जहाँ अपेक्षाकृत शांति थी, उस समय अकबर की समकालीन गोंडवाना की सुप्रसिद्ध राजपूत रानी दुर्गावती भी थी । जो चन्देल शासक कीर्तिसिंह की पुत्री थी । अपने पति गोंडवाना राजा दलपति शाह की मृत्यु (1548) के बाद गोंडवाना की शासिका रानी दुर्गावती बनी । जिसने गोंडवाना का शासन कार्य अपने हाथ में ले लिया । और अपने दायित्व को भली प्रकार निभाते-निभाते रानी ने मालवा के सुलतान बाजबहादूर को कई

बार हराया । एक लड़ाई में तो बाजबहादुर का चचा फतेहखाँ भी मारा गया । श्री वास्तव जी लिखते है -

"अपने पति के पूर्वजों के पदचिन्हों का अनुसरण कर उसने अपने राज्य का विस्तार किया और अपनी वीरता, उदारता और चतुराई से गोंडवाना की राजनीतिक एकता स्थापित की । उसके राज्य के 23,000 गाँवों में से 12,000 तो उसकी सरकार के शासन में थे और शेष उसके अधीन जागीरदारों के हाथ में थे । उसका शासन अति उत्तम था।"[184]

रानी दुर्गावती ने अन्य लड़ाइयाँ लड़ीं और विजय प्राप्त की । आसफखां के साथ भी वह आखिरी सांस तक लड़ती रही, जिसे अकबर ने भेजा था । और इस युद्ध में पराजीत हो गई । अंत में अकबर ने दुर्गावती को हराकर समस्त भारत पर अपना आधिपत्य सदृढ़ किया और इस प्रकार उसने अनेक राज्यों पर आक्रमण युद्ध कर एक-एक कर 18 प्रान्त जीत लिये । डॉ. दिनेशचन्द्र मिश्र ने इस संबंध में अकबर के विषय में लिखा है -

"वास्तव में बड़ा ही महत्वकांक्षी और साम्राज्यवादी सम्राट था । उसका संपूर्ण जीवन अपने साम्राज्य को बढ़ाने में ही व्यतीत हो गया । उसके साम्राज्य में 18 प्रान्त शामिल थे जिनके नाम इस प्रकार हैं - (1) काबूल, (2) लाहौर, (3) मुल्तान, (4) दिल्ली, (5) आगरा, (6) अवध, (7) इलाहाबाद, (8) अजमेर, (9) गुजरात, (10) मालवा, (11) बिहार, (12) बंगाल, (13) खानदेश, (14) बशर, (15) अहमदनगर, (16) उडीसा, (17) काश्मीर और (18) सिन्ध । कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि 18 के स्थान पर 15 सूबों पर इनका शासन था । अर्थात् इनकी सूची में गुजरात, उडीसा, काश्मीर और सिन्ध नहीं है ।"[185]

मुगलों का शासन-प्रबन्ध तीन भागों में विभाजित था- केन्द्रीय शासन-प्रबन्ध, प्रान्त शासन-प्रबन्ध और स्थानीय शासन-प्रबन्ध ।

मुगलों की केन्द्रीय सरकार में सम्राट तथा इसके मन्त्री सम्मिलित थे । सम्राट केन्द्रीय शासन का मुखिया था । राज्य की प्रशासनिक विधायी तथा न्यायिक शक्तियाँ उसके हाथों में निहित थीं । राज्य का सर्वोच्च सेनापति एवं न्यायाधीश भी था । सैद्धान्तिक रूप से असीम शक्तियों का स्वामी होते हुए भी व्यवहारिक रूप में सम्राट को प्रजा की इच्छाओं उसकी आवश्यकताओं तथा प्रचलित रीति-रिवाजों की ओर ध्यान देना पड़ता था । कार्य में सम्राट की सहायता के लिए कुछ मन्त्री होते थे, जिनका प्रमुख कार्य सम्राट को शासन-सम्बंधी विषयों पर परामर्श देना था । उनकी सलाह को मानना तथा न मानना सम्राट की इच्छा पर था । वह मन्त्रियों के विचारों का आदर करता था, लेकिन अन्तिम निर्णय उसका अपना होता था । केन्द्रीय शासन में मन्त्रियों की संख्या 4 से 6 तक थी । श्री वास्तव जी लिखते हैं - "अकबर के अधीन केन्द्रीय सरकार के चार विभाग थे । प्रत्येक विभाग की अध्यक्षता एक मन्त्री करता था । मन्त्रिगण इस प्रकार थे - (1) प्रधानम्त्री (वकील), (2) वित्तमन्त्री (दीवान या वजीर), (3) मुख्य वेतनाध्यक्ष (मीर बख्शी), (4) प्रमुख सदर (सरूस सदरी) ।"[186]

विराटा की पद्मिनी

इस उपन्यास का तत्कालीन समय 18वीं शताब्दी ई. का प्रारंभिक काल था । मुगल साम्राज्य क्षीण हो चुका था । भारत की शासन की बागडोर फर्रूखसियर के हाथों में थी, परंतु उनकी मृत्यु के बाद शासन व्यवस्था सैयद भाई ही कर रहे थे । इतिहास में फर्रूखसियर की मृत्यु का उल्लेख आया है ।

"फर्रूखसियर को अंधा करके जेल में डाल दिया गया और फिर उसकी हत्या कर दी गयी ।"[187]

उपन्यास में दिल्ली की राजनीतिक वातावरण का हाल बताते हुए वर्मा जी ने फर्रूखसियर का उल्लेख मात्र किया है परंतु उपन्यास में उसकी कोई भूमिका नहीं है । उदाहरण देखिए -

"दिल्ली में फर्रूखसियर नाम-मात्र राज्य या कुराज्य कर रहा था । चारों ओर मार-काट मची हुई थी । अंतिम मुगल सम्राट के थपेड़ों ने जो भयंकर लहर भारतवर्ष में उत्पन्न कर दी थी, उसने क्रांति उपस्थित कर दी । दिल्ली के शासन का संचालन सैयदभाई कर रहे थे... ।"[188]

फर्रूखसियर की मृत्यु के बाद रफी उदरजात दिल्ली का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ परंतु शीघ्र ही क्षय रोग होने के कारण उसकी मृत्यु हो गई । फिर रफीउद्दोला को गद्दी पर बिठाया गया उसकी भी मृत्यु हो जाती है । इसी समय एक सरदार ने नेक्सियर को गद्दी पर बिठाया परंतु सैयदों ने जहाँशाह के बेटे रोशन अख्तर को मुहम्मद शाह के नाम से गद्दी पर बिठा दिया । इस संबंध में पाण्डे जी लिखते है -

"मुहम्मदशाह पिछले सम्राटों की अपेक्षा अधिक योग्य था किंतु उसमें भी इतनी शक्ति नहीं थी कि वह साम्राज्य पर अपना अधिकार जमा सके । उसको सबसे अधिक भय इस बात का था कि सैयद भाई उसे भी गद्दी से न उतार दे इसलिए उसने उनको समाप्त करने का संकल्प किया ।"[189]

ऐसी स्थिति में जो अव्यवस्था प्रायः उत्पन्न हो जाया करती है वही हो रही थी । भारत के सारे नवाब, राजा और सरदार स्वतंत्र हो जाने की चिन्ता में लगे रहते थे । अवध बंगाल आदि सुबों के शासकों में दिल्ली की प्रभुता नाम मात्र की ही मानी जाती थी। दिल्ली दरबार महत्वकांक्षी सरदारों का केन्द्र बन गया था । मराठों और राजपूतों के प्रबल प्रहार के साथ-साथ दिल्ली के सुबेदारों की विद्रोही प्रवृत्ति ने मुगल-साम्राज्य के विनाश की घड़ी उपस्थित कर दी थी । कालपी में मुसलमानों की एक बड़ी फौज रहती थी और उसके मुसलमान सरदार का भविष्य सैयद भाईयों के भविष्य से जुड़ा हुआ था । उत्तर और दक्षिण भारत में एक आग सी लगी हुई थी । अनेक राजा और शासक अपने

स्वार्थो के लिए अलग-अलग गुट बनाये हुए थे । सैयद भाईयों के अस्त होने के बाद लोग लगातार स्वतंत्र होने लगे । उपन्यास में वर्मा जी ने कालीपी के सरदार अलीमर्दान का वर्णन किया है ।

"अलीमर्दान दिल्ली, मालवा और बंगश के चक्रव्यूह से बचकर अपनी धुन बना ले जाने की चिंता में था । दिल्ली का भय उसे न था, परंतु उसकी ओट की परीक्षा थी । दिल्ली से ससैन्य आने के लिए बुलावा आया था । बिना समझे-बूझे शीघ्र दिल्ली पहुँच जाना उन दिनों दिल्ली का कोई सुबेदार, फौजदार या सरदार आफथ से खाली नहीं समझता था । मेरे लिए कोई षडयंत्र तो तैयार नहीं है ? मुहम्मद खाँ बंगश ने तो कोई शरारत नहीं रची है ?" [190]

षडयंत्र रचे जाते थे । यह प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही है राजा तथा मुसलमान सुलतान अपने राज्य का, संपति का तथा सेनाओं का विस्तार करने के लिए अंदर ही अंदर षडयंत्र रचते थे । उपन्यास में राजानायक सिंह जिसके तीन पत्नियाँ होने के बावजूद भी संतान नहीं थी और उसकी दासी पुत्र था । जब नायकसिंह मृत्यु शैया पर थे तब राज्य का उत्तराधिकारी के चर्चा चल रही थी कि राजा कौन बनेगा । तब जनार्दन शर्मा ने धोके से देवीसिंह को उसे राजा का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया । देखिए उदाहरण -

"नायकसिंह मृत्यु सैया पर थे वे कुछ बोल नहीं पा रहे थे इसलिए लोचनसिंह ने कागज और कलम मंगवा ली । परंतु राजा बेहोस हो गया ।

एक क्षण बाद राजा को होश आता देखकर जनार्दन ने जोर से कहा देवीसिंह के लिए आदेश हुआ, वह यहाँ उपस्थित है ।

राजा ने कुछ मुँह ही मुँह में कहा, परंतु सुनाई नहीं पड़ा ।

जनार्दन ने मानो कुछ सुना हो बोला 'बहुत अच्छा महाराज ।'"[191]

और इस प्रकार राजा के देवीसिंह का नाम न लेने पर भी जनार्दन ने धोके से देवीसिंह को राजा का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया ।

राज्य प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त खाने में विष देना, भेष बदलना, जासूसी करना, अनेक षडयंत्रों का प्रयोग प्रस्तुत काल में होता था ।

अहिल्याबाई

यह उपन्यास का संबंध 18वीं शताब्दी से है । 18वीं शताब्दी के राजनीतिक साहित्यों का अध्ययन करके पता चलता है कि उस समय देश या राज्य का उच्चाधिकारी राजा या नेता होता था और शासन सत्ता उसीके हाथों होती थी ।

इस काल में चारों ओर गडबड मची हुई थी । शासन और व्यवस्था के नाम पर घोर अत्याचार होते रहते थे । डाकुओं और बटमारों के मारे लोग बहुत त्रस्त हो चुके थे । वे कभी भी किसी भी समय लोगों का धन लूट लेते थे, शादी विवाह में बारातियों से पैसा वसूली करते थे, गहने लूटते थे, मारा-मारी, खून-खराबी, बंदूक चलाना आदि आये दिन होता रहता था । युद्ध भी आये दिन हुआ करते थे । सबसे अधिक समस्या उत्तर और दक्षिण के युद्धों की थी । राजपूतों और मराठों के बीच राज्य का विस्तार बढाने के लिए परस्पर लगातार युद्ध होते रहते ते । मराठों चारों ओर फैल रहे थे । मराठों राजपुतों को दबाते रहते थे । इसके अतिरिक्त राजस्थान के राजपूत राजाओं और सरदारों में भी परस्पर मनमुटाव रहता था । इस काल में राज्य की उच्चाधिकारी रानी अहिल्याबाई थी जिन्होंने रामपुरा, भानपुरा राजपूतों को खूद सैन्य का संचालन करके हराया था और विजय प्राप्ति की थी । अहिल्याबाई की उच्चाधिकारी का प्रमाण ऐतिहासिक पुस्तकों में मिलता है । उदाहरण देखिए -

"1754 में कुम्भर के युद्ध में उनके पति खण्डेराव को वीरगति प्राप्त हुई । वैवाहिक जीवन के इस दुखद अन्त के साथ उन पर राज्य शासन का उत्तरदायित्व आ गया और सन् 1765 में श्वसुर मल्लरव की मृत्यु के बाद राज्य का संपूर्ण भार उन्हें ही संभालना पड़ा ।"[192]

इसका उल्लेख वर्मा जी ने उपन्यास में भी किया है -

"अहिल्याबाई ने राज्य का कार्यभार अपने हाथ में लिया और सेना का काम तुकोजीराव के हाथ में दिया । तुकोजी शूरवीर योद्धा तो थे, परंतु राजनीतिज्ञ उतने भी न थे जितने मल्हारराव । महत्व की हर बात में तुकोजी अहिल्याबाई की सलाह लिया करते थे ।"[193]

अहिल्याबाई के राज्य में शासन सभा दरबार-भवन में होती थी । अहिल्याबाई उची चौकी पर बैठती थी । दरबार में एक सचिव होता था । पत्र लिखने पढ़ने का काम करता था । अपनी सभा में अहिल्याबाई ने कोई मंत्री नहीं रखा था । उनके ही अधिक विश्वास पात्र व्यक्ति रखे थे । राज्य का उत्तरी भाग अहिल्याबाई के शासन में था और सेतपुडा के दक्षिण का तुकोजी के । दोनों का हिसाब किताब अहिल्याबाई के हाथों में रहता था । पुना का संचालन नाना फडनीस के हाथ में सौंपा गया था । इसके अतिरिक्त अहिल्याबाई के काल में गाँवों में पंचायतों को बड़ा मान महत्व दे रखा था । उन्होंने सारे राज्य को जिलों एवं तहसीलों में बाँटकर उन पर सुयोग्य अधिकारियों की नियुक्ति भी की थी । न्याय का काम न्यायाधिश और गाँवों के फसले पंचायतें करती थी । इस संबंध में पूनम जी लिखती है - "उन्होंने न्यायालयों की स्थापना भी करवाई । राज्य की सा

री पंचायतों के नाम को व्यवस्थित किया और न्याय पाने सीढियाँ बना दी गई । आखिरी अपील मं6 सुनते थे । परंतु यदि उनके फैसले से किसी को संतोष न होता तो महारानी खुद भी अपील सुनती थी ।"[194]

अहिल्याबासामने कागजों फरियादों के ढेर होते थे । वह एक-एक कर सभी फरियादों को निबटाती थी और जल्द से जल्द न्याय करने का अंतिम फैसला सुनाती थी । उपन्यास में अन्य स्थानों पर इनके न्यायों का उल्लेख मिलता है । उदाहरण देखिए -

"निबटाने के लिए जो अंतिम पत्र रह गया था वह सुदूरवर्ती अंबाड के कमाविसदार का था । मामला एक मृत के चचेरे भाई का था, जो अपने को उसकी जायदाद का उत्तराधिकारी कहता था । शिकायत यह थी कि एक दूसरा व्यक्ति मृत की तलवार, नकदी, भेड़-बकरी इत्यादि परगने के देशमुख के षड्यंत्र-सहयोग से जबरदस्ती ले भागा । अहिल्याबाई ने तत्काल निर्णय किया, 'तुरंत अनुसंधान करो कि असली उत्तराधिकारी कौन है । यदि वादी ही मृत का चचेरा भाई है तो तुरंत उसे कौडी-कौडी दिलवाओ और जबरदस्ती करनेवाले अपराधी को कड़ा दंड भी दो । हमारे पास आगे कोई शिकायत न आने पाये ।"[195]

सचिव लिखते-लिखते थक जाते थे परंतु अहिल्याबाई को एक जमुहाई तक नहीं आती थी । वे अपना सारा कार्यक्रम निबटा कर ही उठती थी ।

न्याय के साथ दंड देने के फैसले बी स्वयं लेती थी । चोरी करनेवालों को वे केद की सजा सुनाती थी या फिर वह चोरों को सुधरने का एक मौका भी अवश्य देती थी ।

इसके अतिरिक्त दुश्मों के विद्रोह पर उन्हें प्राण दंड भी देती थी । इसका उल्लेख उपन्यास में मिलता है । राजपूतों की लड़ाई में विजय प्राप्ति के बाद जब सुभागसिंह उनके हाथों लगा तब सरदारों ने उनसे दंड के लिए पूछा, सुभागसिंह को क्या दंड दिया जाए तब वह कहती है - "आहिल्याबाई के मूह से निकला, 'अच्छा हुआ दुष्टों ने अपने किए का फल पाया । सुभागसिंह को तोप के मूँह से बांधकर उडा दो ।' और सुभागसिंह तोप के मुँह से बाँधकर उडा दिया गया ।"[196]

इस संबंध में हीरालाल शर्मा लिखते है - "किसी भी तरह के अन्याय से उन्हें बड़ी चिढ़ थी । उन्होंने खुद अन्याय का कोई कार्य कभी नहीं किया और न अन्याय होते देखना उनके लिए संभव था । राज्य का बड़े-से बड़ा अधिकारी भी यदि अन्याय करता तो वह स्वयं न्याय प्रदान कर देती थी । अन्याय करने वाले अधिकारी को उनके क्रोध से बचाने की शक्ति किसी में नहीं थी ।"[197]

माधवजी सिंधिया

प्रस्तुत उपन्यास का संबंध 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से है । इस शताब्दी में भी राजा का उत्तराधिकारी उसका पुत्र होता था । जो अपने पिता के मृत्यु के बाद उनका शासन चलाता था । 18वीं शताब्दी में मुगलों, अफगानों, मराठों, जाटों, सरदारों, राजपूतों आदि के बीच गृहयुद्ध, राज्ययुद्ध हुआ करते थे । हर कोई दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने की लालच में लगा रहता था । प्रस्तुत काल मुगलों के अधःपतन का काल था । प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ 18वीं शताब्दी के शुरूआत में ही मराठा शक्ति को बहुत मजबूत कर दिया था । मराठों के प्रभाव को दक्षिण में सर्वोच्चता देने का श्रेय उन्हीं को जाता है । उसके बाद पेशवा बाजीराव प्रथम ने मराठों की सैनिक सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित की और भारत में मराठों की एक नवीन साम्राज्यवादी शक्ति के जन्म की घोषणा कर दी तथा उन्होंने गुजरात, नागपुर, ग्वालियर आदि क्षेत्रों में मराठा शक्ति का विस्तार कर दिया । इसके अतिरिक्त उन्होंने मुगल सम्राट और हैदराबाद के निजाम के गर्व को चकनाचूर कर बहुत सा क्षेत्र और धन प्राप्त कर लिया ।

इसके विषय में प्रतापसिंह लिखते है - "सम्राट औरंगजेब के शासनकाल (1658-1707 ई.) में ही मराठे पर्याप्त शक्तिशाली हो गए थे । छत्रपति शिवाजी (1627-1680 ई.) ने महाराष्ट्र में मराठा-स्वराज्य की नींव रख दी थी । शिवाजी की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी मुगलों से निरंतर लोहा लेते रहे । 1707 ई. से 1749 ई. तक मराठा राज्य

का स्वामित्व छत्रपति शाहू के हाथ में रही, लेकिन वह एक शान्तिप्रिय और आलसी व्यक्ति था, अतः उसकी वास्तविक शक्ति पेशवाओं के हाथ में बनी रही । वास्तव में शाहू वह अन्तिम मराठा नरेश था जिसने राजा के अधिकारों का उपभोग किया उसके बाद के मराठा राजा केवल नाम मात्र के राजा रहे तथा राज्य की सम्पूर्ण सत्ता पेशवाओं के हाथों में केन्द्रित हो गई ।''[198]

इसी शताब्दी में अफगानिस्तान में अहमदशाह अब्दाली का उदय हुआ । अब्दाली ने स्वयं 1739 में मुगल सम्राट नादिरशाह ने भारत के आक्रमण को देखा तथा भारत के वैभव को लूटने की इच्छा प्रेरित हुई और 1748 में अब्दाली ने 1752 में उसने दूसरी बार पंजाब पर आक्रमण किया तथा इस बार पंजाब और सुलतान को जीतकर और वहाँ अपने-अपने पदाधिकारी नियुक्त करके वापस चला गया । इस प्रकार जब मराठें उत्तर भारत में अपना प्रभाव जमाने में प्रयत्नशील थे उसी समय विदेशी अफगानों के आक्रमण से स्थिति में नया परिवर्तन आया ।

इस शताब्दी में भी राजा तथा बादशाह विपक्षीय युद्ध से बचने के लिए अन्य शक्तिशाली राजा के साथ सन्धि करते थे तथा विपक्षीय राजा के साथ सन्धि करके षडयन्त्र रचते थे । मुगल समार्ट ने यही प्रणाली का प्रयोग किया । इसका उल्लेख इतिहास में आया है । प्रतापसिंह लिखते हैं ''इस समय अहमद शाह मुगलों का बादशाह था । अपने दूसरे आक्रमण में अब्दाली ने पंजाब के सूबेदार मुइन-उल-मुल्क को 14 हजार रूपये वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया । जब सुबेदार उस धनराशि को नहीं दे सका तो अब्दाली का तीसरा आक्रमण हुआ जिसमें उसने पंजाब तथा मुल्तान को जीत लिया । मुगल सम्राट ने पंजाब और सुलतान के सूबे अब्दाली को देकर उससे समझौता कर लिया । इससे अब्दाली को पंजाब की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया और इसी के फलस्वरूप वह आगे चलकर दिल्ली की राजनीति में भी हस्तक्षेप कर सका । अब्दाली के तीसरे आक्रमण के बाद ही मुगल सम्राट के नए वजीर गाजीउद्दीन इमाद-उल-मुल्क ने अप्रिल, 1752 ई. में मराठों से एक समझोता किया ।''[199]

मुगल सम्राट ने अब्दाली से तो संधि कर ली थी परंतु वह जानता था कि अब्दाली पंजाब के बाद दिल्ली पर ही आक्रमण करेगा । उत्तर भारत में भी मुगलों को पर्याप्त शत्रु थे, जैसे राजपूत, जाट, अफगान और मुगल सरदार जो स्वार्थवश मुगल शत्ता को नष्ट करने में लगे थे । इन सबके विरूद्ध मुगल सम्राट ने मराठों का उपयोग करने का

षडयंत्र रचा और उनसे सन्धि कर ली । इस संबंध में संपादक शिवकुमार गुप्त लिखते है - "1752 में मराठों के साथ यह सन्धि की गई कि वे देशी एवं विदेशी शत्रुओं के मुगल सत्ता की रक्षा करेंगे और बदले में उत्तर भारत से उन्हें चौल वसूल करने का अधिकार होगा । इस सन्धि से मुगलों को सबसे अएधिक लाभ हुआ क्योंकि अब सब देशी शक्तियां मराठों की विरोधी हो गई और विदेशी अफगानों के साथ युद्ध करने का उत्तरदायित्व मराठों पर आ पड़ा ।"[200]

उपन्यास में भी वर्मा जी ने मुगल सम्राट द्वारा अब्दाली तथा मराठों की सन्धि का उल्लेख आया है जिसकी पुष्टि हो जाती है ।

"भादशाह ने अपने कुछ 'हिजड़े-कुँजड़े' सलाहकारों की प्रेरणा पर अहमदशाह अब्दाली के साथ अलग संधि कर ली । इस संधि के द्वारा अहमदशाह अब्दाली को सारे पंजाब की सूबेदारी मिल गई ।' अहमदशाह अब्दाली ने उसी दिन से पंजाब को अपने राज्य का अंग मान लिया । अधर बालाजीराव ने पंजाब, सिंध, अजमेर और आगरा के प्रांतों को 'हिंदू-पदपादशाही' में गिन लिया । बादशाह और उसके मूर्ख तथा कट्टरपंथी पार्षदों को विश्वास हो गया कि बढ़िया तरकीब रही - 'दोनों मूजी' एक दूसरे से टकराकर चकनाचूर हो जावेंगे और दिल्ली का राज्य और अपना भोग-विलास सुरक्षित हो जाएगा !!!"[201]

इस सन्धि की शर्तो के अनुसार रूहेलखण्ड के अफगानों के दमन के लिए पेशवा के छोटे भाई रघुनाथराव, (रागोबा) के अधीन एक सेना 1754 में उत्तर भारत भेजी गई राघोबा ने अपनी शक्ति क प्रदर्शन कर राजपूत, जाट एवं अफगान शक्तियों से चौथ वसूल की और मुगल सम्राट अहमदशाह को हटाकर एक नये सम्राट आलमगीर द्वितीय को गद्दी पर बैठाया । वजीर शुजाउद्दोला, जिसकी सहायता से 1752 सन्धि हुई थी, उसे भी हटाकर गाजीउद्दीन को वजीर बना दिया । उत्तर भारत में अपनी स्थिति सुनकर राघोबा पूना वापिस चला गया ।

मुगल द्वारा रचे गये षडयंत्र तथा सन्धि से अफगानों और मराठों के बीच विरोध उत्पन्न हुआ जिसका निर्णय पानीपत के मैदान में हुआ अर्थात् इस समझोते ने मराठों तथा अफगानों के बीच में पानीपत जैसे इतिहास प्रसिद्ध युद्ध को आमंत्रित किया । पानीपत के तृतीय युद्ध का पूरा वर्णन उपन्यास में वर्मा जी विस्तार से किया है । जिसकी पुष्टि उपन्यास पढ़कर हो जाती है - "चौदह जनवरी सन् 1761 मकर की

संक्रांति के सूर्योदय में अभी ठीक दो घंटे की देरी थी । भाऊ की सेना ने सन्नद्ध होकर युद्ध के लिए कूच किया । मोरचों पर पहुँचने में तीन घंटे लग गए । लंबी मार की भारी तोपों को लगने-जमाने में काभी समय व्यय हुआ ।''[202]

पानीपत का तृतीय युद्ध ऐतिहासिक सत्य है । 18वीं शताब्दी के साहित्य में इसका उल्लेख अवश्य देखने को मिलता है । ''1761 ई. में पानीपत का दीसरा निर्णयात्मक युद्ध लड़ा गया, जिसने मराठों के भाग्य का निर्णय कर दिया । प्रातः काल ही मराठों की सेनाएँ आगे बढ़ीं । इब्राहीम खाँ गार्दी ने सहेलों की सेना पर आक्रमण किया और सदाशिव राव भाऊ अपने चुने हुए अश्वारोहियों के साथ शत्रु की सेना के मध्य भाग पर टूट पड़ा और उसे छिन्न-भिन्न कर दिया ।''[203]

मराठा शासनकाल में न्याय विभाग का सर्वोच्च अधिकार पेशवा को होता था । उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारी होते थे जिन्हें न्यायाधीश कहा जाता था । वह खुद भी न्याय करता था । वह अनुशासन प्रिय था । कोई काम समय पर न होने पर वह माधवजी सिंधया जैसे श्रेष्ठ पुरूष को भी डाट लगाने में पीछे नहीं हटता था । उदाहरण देखिए - ''जब माधवजी गुनीसिंह के बीमार होने पर आक्रमण के कुच के लिए देरी करते है और कुच न करके शिबीर में रह जाते है तब माधवराव पेशवा उन्हें कहते है - ''पेशवा ने आश्चर्य प्रकट किया - 'अरे तुम अभी तक यहीं हो !! गए नहीं !'

माधव ने कहा, 'श्रीमंत, शिविर में मेरा खास कलम कलम बीमार पड़ गया है । वैसे तैयारी तो सब हो गई है, कूच करने की । उसके स्वस्थ होते ही चल पड़ूँगा ।'

'बहुत विलक्षण होगा यह खास कलम !' पेशवा के क्षब्ध कंठ से निकला ।

माधवजी चुप रहे ।

पेशवा ने कहा, 'यदि तीन दिन के भीतर तुम्हारे शिविर का कोई भी अंश यहाँ दिखलाई पड़ा तो उसमें आग लगवा दूँगा और तुम्हारा सब सामान लुटवा लूँगा ।' यह था माधवराव पेशवा ! चाहे कोई हो, अनुशान में कसर नहीं लगाता था ।

पेशवा चला गया । माधवजी कुछ क्षण स्तब्ध रहकर घूमते-फिरते लौट आए । वे शिविर में नहीं पहुँच पाए थे कि पेशवा की धमकी पहले पहुँचकर फैल गई ।''[204]

इतिहास में भी इसका उल्लेख आया है -

''बालाजी बाजीराव मृत्यु के बाद 1761 ई. में उसका सत्रह वर्षीय पुत्र माधवराव नारायण पेशवा बना । वह एक महान पेशवा था । उसके समय में मराठों ने अपनी खोई

हुई शक्ति पुनः प्राप्त कर ली । मराठों में पुनः उत्साह व अनुशासन उत्पन्न हो गया ।''[205]

न्याय के अतिरिक्त दंड देने का अधिकार भी पेशवा का होता था । वह प्रजा के लिए बनाये नियम कानूनों को तोड़नेवालों तथा अपराधिओं को स्वयं दण्ड देता था । अपराध करने पर अपने चाचा (राघोबा) को भी माफ नहीं करता और पकड़कर बंदीगृह में डाल देता है देखिए उदाहरण -

''जब निजाम राघोबा से मिलकर उससे लडा तब उसे हटाया, जब राघोबा भोंसले से मिलकर लड़ा तब उसने निजाम को ठंडा करके उन दोनों को पराभूत किया और अंत में राघोबा को पकड़कर बंदीगृह में डाल दिया ।''[206]

टूटे काँटें

यह उपन्यास 18वीं शताब्दी से संबद्ध है । इस समय तक मुगल साम्राज्य का पतन हो चुका था । चारों और अराजकता का राज्य था । दिल्ली डामाडोल हो चुकी थी । निजामुल्क मुल्क, सदतखां, मुहम्मदशाह जैसे राजा अपने स्वार्थ में डुबे हुए थे । दिल्ली ने राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए वर्मा जी लिखते है -

''दिल्ली के बड़े-बड़े सूबेदार और पदाधिकारी अपने-अपने राज्य बनाने की होड़-सी लगा रहे थे । हिंदूस्तान के बाहर से खैबर दर्रे के द्वारा अर्थलोलुप, क्रूर, बर्बर, थोड़े और बहुत निरंतर आ रहे थे तथा समुद्री मार्ग से फ्रांसीसी, पुर्तगाली, अंग्रेज इत्यादि विदेशी उमड़े चले आ रहे थे और भारत का पीड़ित जन अपने को असमर्थ पा रहा था ।''[207]

मुगलों को पराजित कर मराठों की स्वतंत्रता स्थापना की कल्पना दिल्ली के सामान्य जन-समूह की लूटपाट तक ही सीमित थी । मुगलों, मराठों, जाटों में पारस्परिक कलह होता रहता था । जिसके परिणाम स्वरूप सामान्य जनजीवन में असंतोष की व्यापक लहर फैल गई थी । ऐसी अवस्था में कुछ ऐसे सामंत और नवाब नादिरशाह जैसे लोग भी जो दुर्दाँत बर्बर को आमंत्रित कर निहीर जनता के साथ उसे खून की होली खेलते देखने में तनीक भी संकोच नहीं करते थे । ''नादिरशाह ने अपनी पाशविकता की दिल्ली एक विशाल श्मशान की भाँति जल उठी । इसके बाद उसने मुहम्मदशाह से लगभग सत्तर करोड़ रूपे दंड-स्वरूप लिए । हीरों, जवाहिरातों, मोतियों की पच्चीकारी किए प्रसिद्ध तख्त-ताऊस और चार हजार सुंदरियों को लेकर नादिरशाह दिल्ली को चीत्कारों और आहों के बीच छोड़कर ईरान चल दिया ।''[208]

रानी लक्ष्मीबाई

प्रस्तुत काल की राजनीतिक दशा अत्यंत दयनीय थी । अंग्रेजों का प्रभुत्व दिनोंदिन बढ़ रहा था । देशी रजवाडों में भी अंदर ही अंदर लड़ाई होती रहती थी । उनमें पारस्परिक एकता की कोई भावना नहीं थी । उस समय झांसी राज्य की बागडोर रानी लक्ष्मीबाई के पति गंगाधर राव के हाथ में थी । इस काल के पीरअली, बहादूर, दूलहाजू कितने ही देशद्रोही अंग्रेजों से जा मिले थे । उत्तराधिकारी का कोई नियम कानून न था। गद्दी के अनेक दावेदार उठ खड़े होते थे जो फूट का कारण था । प्रजा पूरी तरह से पीस रही थी तथा राजा नवाबों को अपनी गद्दी की चिन्ता के अतिरिक्त और कुछ न सुजता था । स्थानीय पंचायत और व्यापार धीरे-धीरे नष्ट किया जा रहा था । नये कानून बनाये जा रहे थे । अंग्रेजों ने गोद लेने का कानून भी मानने से इन्कार कर दिया था । परिणाम स्वरूप गंगाधरराव के दत्तक पुत्र को उनकी मृत्यु के बाद राज्याधिकार प्राप्त न हो सका ।

राजा गंगाधर राव की मृत्यु के बाद झाँसी राज्य का कोई वारीसदार न होने के कारण लोर्ड डलहौजी ने झाँसी को अपने राज्य में मिला लिया था । इसी राज्य को फिर से प्राप्त कनरे के लिए रानी लक्ष्मीबाई स्वराज्य की लड़ाई लड़ती है और अंग्रेजों के छक्के छुडाती है । 'झाँसी' का युद्ध इसका प्रमाण है । झाँसी का राज्य प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों का विरोद्ध करती है और 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूंगी ।' का नारा लगाती है । अपने स्वराज्य की रक्षा करती है ।

झाँसी को ब्रिटिश राज्य में मिलाने का उल्लेख ऐतिहासिक पुस्तकों में भी मिलता है । उदाहरण देखिए -

"तारीख 21 नवम्बर सन् 1853 ई. को महाराज गंगाधर राव का देहांत हुआ । उन्होंने अपनी मृत्यु से पहले दामोदर राव को गोद लिया था, परंतु श्रीमान गवर्नर जनरल साहब ने यह दत्तक नामंजूर किया । इसलिए भारत सरकारी, तारीख 7 मार्च सन् 1854 ई. की आज्ञा के अनुसार झाँसी क राज्य ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया ।"[209]

इसका उल्लेख उपन्यास में भी आया है -

"दत्तक को गवर्नर जनरल ने नामंजूर किया है । इसलिए भारत सरकार की 7 मार्च सन् 1854 की आज्ञा के अनुसार झाँसी का राज्य ब्रिटिश इलाके में मिलाया जाता है।"[210]

इस घुटन भरे वातावरण से भारत की साधारण जनता भी रोष में भर चुकी थी । रानी के स्वराज्य प्राप्त के युद्ध में नानासाहब, तात्याटोपे आदि प्रमुख देशभक्तों ने अंग्रेजों के विरूद्ध जाकर रानी का सहयोग दिया । कुछ पीरअली, अली बहादूर, दूल्हाजू जैसे देशविद्रोही लोग भी षडयंत्र रचते थे और झाँसी का सारा भेद अंग्रेजों को बताते थे ।

रामगढ़ की रानी

प्रस्तुत उपन्यास का कथानक 1857 ई. की स्वतंत्र संग्राम की क्रांति से संबद्ध है । उस समय भारत की आर्थिक स्थिति दयनीय थी । ईस्ट इंडिया कंपनी के निरंकुश शासन में न केवल सामंतीय जीवन ही अस्तव्यस्त था बल्कि सामान्य जनजीवन भी त्रास भोग रहा था । किसान पूर्णतः बर्बाद हो रहे थे । गरीब किसान की स्थिति और भी दयनीय थी । व्यापारियों का कारोबार, कारीगरों के कामकाज आदि अंग्रेजों के आधिन हो रहे थे । तत्कालीन दयनीय स्थिति को चित्रित करते हुए एक व्यवसायी के माध्यम से वर्मा जी ने लिखा है -

"देश के नमक का कारबार इन फिरंगियों के नमक ने चौपट कर दिया । अपने यहाँ के बने कपड़ों का व्यापार भी नष्ट हो गया है, किसान कराह रहे है, चबी के कारतूसों के कारण पल्टनों में त्राहि-त्राहि मच उठी है, सैंकड़ों यहाँ के किसी भी शिल्प, किसी भी पक्के माल को सरकार की तरफ से रत्ती-भर का भी प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है । उधर अब इज्जत और धर्म संकट में है ।"[211]

इस संबंध में डॉ. कालूराम जी लिखते है -

"इंग्लैंड में मशीन से बने कपड़े ने जहाँ भारत के बुनकरों को बर्बाद कर दिया, वहीं दूसरी तरफ मशीन के बने सूत ने सूत कातने वालों को उजाड दिया । सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों के अलावा लोहे, बर्तन, काँच तथा आदि के मामले में भी यही हालत हुई। देश में बनी पीतल और ताबों के स्थान पर युरोप से आयात किये जाने वाले कलईदार बर्तन और एल्युमीनियम के सामान का प्रयोग होने लगा । जिन-जिन क्षेत्रों में रेलें पहुँचनी शुरू हुई, वहाँ-वहाँ सत्ता विदेशी लोहा और इस्पात पहुँच गया । इस प्रकार शहरों और गाँवों - दोनों स्थानों में रहने वाले लाखों शिल्पियों और कारीगरों, सूत कातने वालों, बुनकरों, कुम्हारों, लोहा लगानेवालों तथा लोहारों के समान खेती करने के अलावा कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया । भारत जो कृषि और उद्योग की मिली-जुली

पद्धतिवाला देश था, अब ब्रिटेन के औद्योगिक पूँजीवाद का कृषि प्रधान उपनिवेश बना दिया गया ।''[212]

संदर्भ सूची

1. वर्मा, वृन्दावनलाल, भुवनविक्रम, पृ.106
2. वर्मा, वृन्दावनलाल, मृगनयनी, पृ.118
3. वर्मा, वृन्दावनलाल, टूटे काटे, पृ.226, 227
4. वर्मा, वृन्दावनलाल, महारानी दुर्गावती, पृ.149, 150
5. वर्मा, वृन्दावनलाल, भुवनविक्रम, पृ.153
6. वर्मा, वृन्दावनलाल, मुसाहिब जू, पृ.13
7. वर्मा, वृन्दावनलाल, संगम, पृ.97
8. वर्मा, वृन्दावनलाल, अपनी कहानी, पृ.81
9. वर्मा, वृन्दावनलाल, अमरबेल, पृ.46, 48
10. वर्मा, वृन्दावनलाल, भुवनविक्रम, पृ.82, 83
11. वर्मा, वृन्दावनलाल, अमरबेल, पृ.286, 289
12. वर्मा, वृन्दावनलाल, कभी न कभी, पृ.182
13. वर्मा, वृन्दावनलाल, अचल मेरा कोई, पृ.215, 276
14. वर्मा, वृन्दावनलाल, भुवनविक्रम, पृ.339
15. वर्मा, वृन्दावनलाल, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ.86

16. वर्मा, वृन्दावनलाल, अमरबेल, पृ.368
17. वर्मा, वृन्दावनलाल, टूटे काटे, पृ.2
18. वर्मा, वृन्दावनलाल, कुण्डलीचक्र, पृ.18
19. वर्मा, वृन्दावनलाल, भुवनविक्रम, पृ.215
20. वर्मा, वृन्दावनलाल, आहत, पृ.226
21. वर्मा, वृन्दावनलाल, मृगनयनी, पृ.314
22. वर्मा, वृन्दावनलाल, देवगढ़ की मुस्कान, पृ.67
23. वर्मा, वृन्दावनलाल, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ.34, 35
24. वर्मा, वृन्दावनलाल, सोना, पृ.45
25. वर्मा, वृन्दावनलाल, कचनार, पृ.3
26. वर्मा, वृन्दावनलाल, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, पृ.63, 64
27. वर्मा, वृन्दावनलाल, संगम, पृ.170
28. वर्मा, वृन्दावनलाल, अहिल्याबाई, पृ.163
29. वर्मा, वृन्दावनलाल, महारानी दुर्गावती, पृ.170
30. अग्रवाल, लक्ष्मी नारायण - प्राचीन भारतचीय संस्कृति, पृ.131
31. राव, डॉ. विजय बहादुर - उत्तर वैदिक एवं संस्कृति, पृ.59
32. वर्मा वृन्दावनलाल - भुवन विक्रम, पृ.42
33. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृ.238
34. ठाकुर, डॉ. उपेन्द्र- प्राचीन भारत (प्रथम खण्ड आदि काल से 320 ई. तक) पृ.174
35. वर्मा, वृन्दावन लाल, भुवन विक्रम, पृ.16
36. लूनिया, डॉ.वी.एन., प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ.121
37. ठाकुर, डॉ. उपेन्द्र - प्राचीन भारत (प्रथम खंड आदि काल से 320 ई. तक), पृ.192

38. वर्मा, वृन्दावनलाल - भुवन विक्रम, पृ.105

39. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.15

40. नागोरी, डॉ. एस.एल. मध्यकालीन भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ.55

41. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.38

42. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.37

43. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.20

44. सिंह, डॉ. प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.14

45. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.57

46. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़ कुंडार, पृ.105

47. वर्मा, संपा. हरिश्चंद्र - मध्यकालीन भारत भाग-1 (750-1540), पृ.386

48. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.227

49. वर्मा, संपा. हरिश्चंद्र - मध्यकालीन भारत भाग-1 (750-1540), पृ.400

50. वर्मा, संपा. हरिश्चंद्र - मध्यकालीन भारत, पृ.403

51. नागर, रविभानु - तुर्क अफगान कालीन भारत, पृ.571

52. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.97

53. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.29

54. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.177

55. वर्मा, वृन्दावनलाल - मध्यकालीन भारत, पृ.357

56. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.2

57. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.111

58. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.200

59. श्रीवास्तव आशीर्वादीलाल लाल, भारत का इतिहास, पृ.594

60. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.137

61. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.32, 33

62. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.137

63. अबुल फजल - अकबरनामा, भाग-2, पृ.215, 216

64. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.117

65. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.45

66. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.46

67. मोरी, पुनम के. - भारत की आदर्श नारियाँ, पृ.67

68. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.54

69. शर्मा हीरालाल अहिल्याबाई, पृ.101

70. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.125

71. शर्मा, हीरालाल - अहिल्याबाई

72. मोरी, पुनम के. - भारत की आदर्श नारियाँ, पृ.

73. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.42

74. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.252

75. खन्ना, कैलाश - आधुनिक भारत का इतिहास, पृ.52

76. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.177

77. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.163

78. खन्ना, कैलाश - आधुनिक भारत का इतिहास, पृ.59

79. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.185

80. वर्मा, वृन्दावनलाल - टूटे काँटे, पृ.77

81. वर्मा, वृन्दावनलाल - टूटे काँटे, पृ.11

82. वर्मा, वृन्दावनलाल - टूटे काँटे, पृ.113

83. शर्मा, कालूराम, डॉ. प्रकाश व्यास - आधुनिक भारत का राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, पृ.291

84. शर्मा, डॉ. कालूराम, डॉ. प्रकाश - आधुनिक भारत का राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, पृ.220

85. नागोरी, डॉ. एस.एल.जीतेश, आधुनिक भारत का राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास (1858-1956), पृ.4

86. वर्मा, वृन्दावनलाल - रामगढ़ की रानी, पृ.185

87. डॉ. दिनेश मांडोल - आधुनिक भारत की वीरांगनाएँ, पृ.87

88. वर्मा, वृन्दावनलाल - मूसाहिबजू, पृ.13

89. त्रिवेदी, क्षेमकरणदास - अथर्ववेद अष्टम काण्ड, पृ.367

90. महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद, पृ.838

91. सिंह, रातिभानु नाहर - प्राचीन भारत का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, पृ.82

92. महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती - यजुर्वेद, पृ.838

93. अग्रवाल, लक्ष्मी नारायण - प्राचीन भारत संस्कृति, पृ.134

94. संपा. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती - शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण भाग-2, पृ.136

95. वर्मा, वृन्दावनलाल - भुवन विक्रम, पृ.84

96. महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद, भाषा-भाष्य, पृ.839

97. महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेद, भाषा-भाष्य, पृ.839

98. वर्मा, वृन्दावनलाल - भुवन विक्रम, पृ.76

99. अरोरा, राजकुमार - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ.127

100. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.74

101. मिश्र, डॉ. दिनेशचंद्र - भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास, पृ.70

102. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.161

103. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.157, 158

104. मिश्र, डॉ. निदेशचन्द्र - भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास, पृ.75, 76

105. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.93

106. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़कुंडार, पृ.103

107. गुप्त, नर्मदा - बुन्देलखां की लोभ संस्कृति का इतिहास, पृ.283

108. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़कुंडार, पृ.107

109. गुप्त, नर्मदा - बुन्देलखां की लोभ संस्कृति का इतिहास, पृ.171

110. श्रीवास्तव, डॉ. आशीर्वादीलाल - भारत का इतिहास, पृ.217

111. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.474

112. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.380

113. सिंह, रविभानु नाहर - तुर्क अफगान कालीन भारत, पृ.601, 602

114. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.438

115. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.404-405

116. सिंह, रविभानु नाहर - तुर्क अफगान कालीन भारत, पृ.602

117. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.35

118. वर्मा, वृन्दावनलाल - रानी दुर्गावती, पृ.93

119. वर्मा, वृन्दावनलाल - रानी दुर्गावती, पृ.129

120. मिश्र, डॉ. दिनेशचन्द्र - भारत का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक इतिहास, पृ.107

121. श्रीवास्तव, डॉ. आशीर्वादी लाल - अकबर महान, पृ.159, 160

122. श्रीवास्तव, डॉ. आशीर्वादी लाल - अकबर महान, पृ.81

123. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.11

124. सिंहल, शशिभूषण, उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा, पृ.124

125. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.67

126. ठाकुर, मुकेश नायक - बुन्देलखंड का परिचय, पृ.49

127. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.262

128. मोरी, पुनम के. - भारत की आदर्श नारियाँ, पृ.63

129. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.58

130. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.74, 75

131. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.121

132. मिश्र, पं. रामगोपाल - तपोभूमि, पृ.306

133. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.126

134. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.31

135. पाण्डेय, श्री नेत्र - भारत का संपूर्ण इतिहास, पृ.248

136. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.85

137. नागोरी, डॉ. एस.एल. - आधुनिक भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास, पृ.180

138. वर्मा, वृन्दावनलाल - झाँसी की रानी, पृ.229

139. वर्मा, वृन्दावनलाल - झाँसी की रानी, पृ.41

140. वर्मा, वृन्दावनलाल - मुसाहिबजू, पृ.13

141. त्रिवेदी, क्षेमकरणदास - अथर्ववेद (आर्य भाषा भाष्य), अष्टम काण्ड से बीस काण्ड तक), पृ.147

142. ठाकुर, उपेन्द्रनाथ - प्राचीन भारत, पृ.66

143. ठाकुर, उपेन्द्रनाथ - प्राचीन भारत, पृ.163

144. वर्मा, वृन्दावनलाल - भुवन विक्रम, पृ.6

145. महर्षि श्री स्वामी, दयानन्द सरस्वती - यजुर्वेद - भाषा भाष्य, पृ.967

146. वर्मा, वृन्दावनलाल - भुवन विक्रम, पृ.251

147. अरोरा, राजकुमार - प्राचीन भारत का इतिहास आदिकाल से 1200 ई.स. तक, पृ.598

148. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.9

149. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल लाल, पृ.16, 17

150. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.38

151. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.36

152. विशुद्धानंद - उत्तर भारत का राजनीतिक, इतिहास, पृ.413

153. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.55, 56

154. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.11

155. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.36

156. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.63

157. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.142

158. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.36

159. भार्गव, डॉ. वी.एस.मध्यकालीन भारतीय इतिहास, पृ.24

160. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.88

161. वर्मा, वृन्दावनलाल - देवगढ़ की मुस्कान, पृ.93

162. संपा. मुकेश - बुन्देलखंड का परिचय, पृ.20

163. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़कुंडार, पृ.148

164. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़कुंडार, पृ.166

165. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.49

166. तिवारी, गोरेलाल - बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास, पृ.121

167. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़कुंडार, पृ.237

168. शर्मा, डॉ. मथुरालाल - दिल्ली सल्तनत, पृ.50

169. वर्मा, वृन्दावनलाल - गढ़कुंडार, पृ.54

170. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.429

171. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, परिचय, पृ.1

172. सिंह, प्रताप - दिल्ली सल्तनत, पृ.433

173. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.536

174. सिंह, डॉ. रविभानु नाहर - तुर्क अफगान कालीन भारत, पृ.599-600

175. सिंह, डॉ. रविभानु नाहर - तुर्क अफगान कालीन भारत, पृ.291

176. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, परिचय, पृ.291

177. वर्मा, संपा. हरिश्चन्द्र - मध्यकालीन भारत भाग-1, पृ.246

178. वर्मा, वृन्दावनलाल - मृगनयनी, पृ.474

179. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल - मुगलकालीन भारत, पृ.103

180. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.33

181. श्रीवास्तव आशीर्वादीलाल - मुगलकालीन भारत, पृ.102 (1526 सं. 1803 ई. तक)

182. वर्मा, वृन्दावनलाल - महारानी दुर्गावती, पृ.167, 168

183. गुप्त, डॉ. शिवकुमार - मध्यकालीन भारत, पृ.116-117

184. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल - अकबर महान, पृ.86

185. मिश्र, डॉ. दिनेशचन्द्र - भारत का सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास, पृ.94

186. श्रीवास्तव, आशीर्वादीलाल लाल - भारत का इतिहास, पृ.537

187. पाण्डेय, अवध बिहारी - उत्तरकालीन भारत, पृ.348

188. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.31

189. पाण्डेय, अवध बिहारी - उत्तर मध्यकालीन भारत, पृ.348

190. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.43

191. वर्मा, वृन्दावनलाल - विराटा की पद्मिनी, पृ.57, 58

192. शर्मा, हीरालाल अहिल्याबाई, पृ.19

193. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.30

194. मोरी, पूनम के. - भारत की आदर्श नारियाँ, पृ.64

195. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.18

196. वर्मा, वृन्दावनलाल - अहिल्याबाई, पृ.64

197. शर्मा, हीरालाल - अहिल्याबाई, पृ.92

198. सिंह, प्रताप - आधुनिक भारत, पृ.1

199. सिंह, प्रताप - आधुनिक भारत, पृ.3

200. गुप्त, शिवकुमार - आधुनिक भारत का इतिहास, पृ.7

201. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.34

202. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.182

203. पाण्डेय, श्री नेत्र - भारत वर्ष का संपूर्ण इतिहास, पृ.295

204. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.258

205. नागोरी, डॉ. एस.एल. - मध्यकालीन भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास, पृ.55

206. वर्मा, वृन्दावनलाल - माधवजी सिंधिया, पृ.259

207. वर्मा, वृन्दावनलाल - टूटे काँटे, पृ.44

208. वर्मा, वृन्दावनलाल - टूटे काँटे, पृ.187

209. दत्तात्रेय, बलवंत पारसनीस - झाँसी की रानी, पृ.58

210. वर्मा, वृन्दावनलाल - झाँसी की रानी, पृ.158

211. वर्मा, वृन्दावनलाल - रामगढ़ की रानी, पृ.113

212. शर्मा, कालूराम - आधुनिक भारत का राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक इतिहास, पृ.220